भक्तितरङ्गिणी



डा० मुंशीराम शर्मा



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१

विद्याभवन-राष्ट्रभाषा-ग्रन्थमाला
२१

भक्तितरङ्गिणी

लेखक—
डा० मुंशीराम शर्मा



चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१

सं० २०१६] मूल्य ३) [ई० १९५९

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी–१

मुद्रक—
विद्या विलास प्रेस,
वाराणसी

Sharat Sharma Hiremath
"vedant Shastri"

74

स्वर्गीय अनुज

श्री थानसिंह दीक्षित

को

स्नेहमयी स्मृति

में

भूमिका

मानव-जीवन का लक्ष्य

वैदिक धर्म में ज्ञान, कर्म और उपासना—तीन काण्ड या मार्ग निश्चित किये गये हैं जिन पर चलकर मानव अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। अनेक आचार्यों एवं सन्तों ने एक काण्ड की सम्पूर्ण उत्तीर्णता को भी अभीष्ट-प्राप्ति का साधन कहा है, परन्तु सर्वमान्य सिद्धान्त यही रहा है कि तीनों काण्डों का समन्वय ही सम्यक् सिद्धि का हेतु है। उपनिषदों के सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता में भी तीनों काण्डों का विवेचन पाया जाता है, पर प्रधानता उसने निष्काम कर्म को दी है जो ज्ञान और उपासना के विना संभव नहीं हो सकता। ज्ञान बुद्धि से सम्बन्धित है और उपासना श्रद्धा एवं विश्वास पर अवलम्बित है। प्रत्येक कार्य के मूल में इन दोनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कर्म के लिये ज्ञान और उपासना, बुद्धि और श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन के लिये कर्म (तप) और उपासना (श्रद्धा) तथा उपासना के लिये ज्ञान और कर्म अपेक्षित हैं। उपासना से पूर्व भक्ति के क्षेत्र में स्तुति तथा प्रार्थना आती हैं। स्तुति में प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है। किसी के गुणों का गान उसके स्वरूप को समझने में अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति (गुण-कीर्तन) ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आ जाती है। प्रार्थना में प्रभु से पाप के प्रक्षालन और पुण्य की प्राप्ति के लिए याचना की जाती है। दानवता का दलन तथा दैवी विभूतियों का समावेश कर्म की अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यास के द्वारा ही इनकी सिद्धि संभव होती है।

अतः भक्ति त्रिपथगा बनकर ज्ञान, कर्म (स्तुति-प्रार्थना) और उपासना की पावन त्रिवेणी के संगम का रूप धारण कर लेती है ।

पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण करनेवाले विद्वानों की सम्मति में भक्ति या उपासना बहुत बाद की चीज है । वैदिककाल में, इनके विचारानुसार, पूजा की शैली इष्ट-अनिष्ट देवों को प्रसन्न करने और बलि चढ़ाने के रूप में थी। इन्द्र, वरुण; अग्नि, वायु आदि को ये विद्वान् विभिन्न देवताओं के नामों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते । यूरोप के विद्वान् अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित संस्कृति के जिन स्तरों में से निकल कर आज की अवस्था को प्राप्त हुये हैं, वे उपासना को बाद की चीज कहें तो कह सकते हैं; पर जिन विद्वानों की रक्तवाहिनी धमनियों में वेदों और उपनिषदों के भावाङ्कुर विद्यमान हैं, वे जब उपासना को बाद की चीज कहते हैं तो आश्चर्य होता है । इन्द्र, वायु आदि को हमारे यहाँ के मध्यकालीन विद्वान् भी विभिन्न देवों के नाम ही मानते थे, पर आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस भ्रम का खण्डन बहुत पूर्व कर दिया था। उन्होंने लिखा है कि प्रभु के अनन्त सामर्थ्य के कारण उसके अनेक नाम हैं। अतः प्रभु की नाना प्रकार की शक्तियों को अनुभव करके ऋषियों ने अनेक नामों से उसकी स्तुति की है। उस महान् देव ईश्वर का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य है । निरुक्त ही नहीं, स्वयं वेद इस बात की निम्नलिखित ऋचाओं द्वारा पुष्टि करते हैं:—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजु० ३२–१)
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० १।१६४।४६)

ये मन्त्र इतने स्पष्ट हैं कि इन पर कुछ भी भाष्य करना व्यर्थ सा प्रतीत होता

है। एक ही प्रभु को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं। अतः इन्द्र, यम, वायु आदि अनेक देवताओं के नाम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही ईश्वर के अनेक गुण और शक्तियों को प्रकट करनेवाले अनेक नाम हैं। यह उपास्य, पूजनीय ईश्वर एक ही है, दो-तीन-चार अर्थात् अनेक नहीं—यह तत्त्व भी वेदमन्त्रों में अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक अंकित है। ऐसे मंत्रों के कुछ भाग नीचे लिखे जाते हैं:—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। (यजु० २५–१०)
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। (यजु० २५–११)
य एक इत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। (ऋ० ६–४५।१६)

वेद ने इसी ईश्वर की प्राप्ति को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य घोषित किया है और उसके लिये ज्ञान, कर्म तथा उपासनारूपी त्रिविध मार्ग का निर्देश किया है। केन उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' यदि यहाँ ही उस परमदेव को जान लिया तो अच्छा है, नहीं तो उसके न जानने पर महान् विनाश आ उपस्थित होता है। श्रुति भगवती कितने स्पष्ट शब्दों में इसी भाव का अभिव्यञ्जन करती है:—

ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
(ऋ० १।१६४।३९)

ऋचायें उसी परम व्योम, सर्वव्यापक, अविनाशी, अक्षर ब्रह्म में निहित हैं जिसमें समस्त देव, दिव्यगुणधारी चेतन एवं अचेतन शक्तियाँ निवास करती हैं। जो इस अविनाशी ब्रह्म को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं के पाठ से क्या प्राप्त करेगा? जिन्होंने इस देव को जान लिया है, वही शान्त और सुखी हैं।

कठोपनिषद् का ऋषि वेदपाठ, तप और ब्रह्मचर्य का साफल्य प्रभुप्राप्ति में ही अनुभव करता हुआ कहता है:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् ॥ (क० २-१५)

गीता ने इसी श्रुति के स्वर में स्वर मिलाकर कहा है:—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ८-११
ओ३मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८-१३

अर्थात् जिस पद की व्याख्या में समस्त वेद संलग्न हैं, तपस्वी जिस पद का अनूठा वर्णन करते हैं, वीतराग यति जिसमें विश्राम प्राप्त करते हैं और जिसकी कामना करते हुए मानव ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद—वह अक्षर—ओ३म् है। ब्रह्म का यही सर्वोत्तम नाम है। जो इस ओ३म् अक्षर का जाप करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

कठोपनिषद् के ऋषि ने निम्नाङ्कित श्लोकों में इसी अक्षर, अविनाशी ब्रह्म को परम, सबसे श्रेष्ठ, सबसे ज्येष्ठ और सबसे प्रेष्ठ कहा है:—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ २-१६
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ २-१७

यही अक्षर ओ३म् प्रभु का नाम है। यही अक्षर सबसे उत्तम है। जिसने इसे जान लिया, उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है। ब्रह्म के इसी नाम का अवलम्बन श्रेष्ठ है। इस अवलम्बन, आश्रय से बढ़कर अन्य कोई अवलम्बन नहीं है। इसको जानकर आत्मा ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है। न जाने कितने सन्त, कितने मुनि, कितने ऋषि इस महत्तम अवलम्बन के

पीछे अपने ऐहिक संसार को स्वाहा कर गये ! यहाँ मिटने पर ही तो वहाँ का यह आश्रय प्राप्त होता है !

ईश्वर का स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद के प्रकाश में ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, उनका प्रभाव इस युग के मानव-मस्तिष्क पर अधिक पड़ा है। इनके मतानुसार जब मनुष्य समाज के रूप में संगठित हुए तो उनमें से बलवान और शक्तिशाली पुरुषों ने दूसरों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। शासन कार्य को नैतिक रूप देने के लिये इन्होंने एक भयानक और शक्तिशाली सत्ता की कल्पना की और उसका नाम ईश्वर रखा। पुरोहितों के वर्ग ने इस कल्पित सत्ता के प्रचार में योग दिया। इस प्रकार कालान्तर में यह सत्ता जनता के विश्वास में बद्धमूल हो गई। नीट्शे लिखता है कि मनुष्यों ने परमेश्वर की कल्पना एक महान् शक्तिसम्पन्न पुरुष के रूप में की है। यदि घोड़ा परमेश्वर की कल्पना करता तो वह एक विशाल घोड़े के रूप में करता। नीट्शे की सम्मति में इस प्रकार के कल्पित परमेश्वर को आधुनिक विज्ञान ने समाप्त कर दिया है। रूस के बोल्शेविज़्म ने भी पूँजीवादी शोषक शासकों की प्रतिक्रियास्वरूप ईश्वर-विश्वास को धक्का पहुँचाया। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि ईश्वर हो भी, तो भी हमें उसे पदच्युत एवं ध्वस्त करना होगा। परन्तु यह सब असामञ्जस्य वाली विकृति का परिणाम था। मुख्य भाव इस युग में यही उत्पन्न हुआ कि परमात्मा की कोई सत्ता नहीं, वह कल्पित है। कुछ समाजवादियों ने यह भी कहा कि यह कल्पित ईश्वर सामाजिक नियन्त्रण के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है, इसलिए इसे लोगों की कल्पना में जीवित रहना चाहिये।

हर्बर्ट स्पेन्सर और हैगल ने एक दूसरा विचार ईश्वर के सम्बन्ध में उपस्थित किया। इनके मतानुसार जो कुछ दिखाई देता है, वह सब एक

शक्ति का प्रकाश है। विश्व के विभिन्न चेतन-अचेतन रूप उस शक्ति के विभिन्न चिह्नों को प्रकट करते हैं। जो कुछ है उस सब को परमात्मा कहा जाता है। परन्तु यह परमात्मा ज्ञान नहीं रखता, उसमें अहंभाव, अपनी सत्ता का भाव नहीं है। बौद्धों ने भी कुछ-कुछ ऐसी ही विचार-प्रणाली को प्रकट किया था जिसमें अनन्त सत्य ज्ञान का समावेश करके शंकर ने अद्वैतवाद को जन्म दिया।

तीसरा विचार बाइबिल ने प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार ईसा परमात्मा का पुत्र है और वह मनुष्यों के पापों को अपने ऊपर लेकर दुःख का जीवन व्यतीत करता है। वैदिक धर्म के अनुसार ये तीनों विचार भ्रान्त हैं। ईश्वर न तो कल्पित है, न अज्ञानी है और न दुखी है। वह भूः अर्थात् सत्तावाला है, उसका अस्तित्व है, वह सत्य है। वह भुवः अर्थात् चेतन और ज्ञानवाला है। वह हमारी प्रार्थनाओं को सुन सकता है। उसके ज्ञान का प्रकाश संसार के नियमबद्ध, व्यवस्थित व्यापारों में भलीभांति प्रकट हो रहा है। वह पूर्ण है, अतः उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है। वह स्वः अर्थात् आनन्दस्वरूप है। उसमें दुःख का लवलेश भी नहीं है। वह सच्चिदानन्द है। तीनों महाव्याहृतियाँ—भूः, भुवः और स्वः—उसके सत्, चित् और आनन्द स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं।

महाव्याहृतियों के पश्चात् चार व्याहृतियाँ और हैं जो प्रभु के स्वरूप का वर्णन करती हैं। महः से प्रभु की महत्ता, विशालता और अनन्तता प्रकट होती है। संसार की प्रत्येक वस्तु सीमित है, संसार स्वतः सीमित है, परन्तु प्रभु असीम है, अपरिमित है, अनन्त है। उसकी सत्ता, उसके ज्ञान, उसकी शक्ति और उसके आनन्द की कोई इयत्ता या अवधि नहीं है। वह देश और काल दोनों की सीमा से पृथक् है। प्रभु की महत्ता उसकी सर्वव्यापकता, सूक्ष्मता और निराकारता की भी द्योतक है। प्रभु सर्वान्तर्यामी है, सबके अन्दर और

बाहर वर्तमान है। वह सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान है। आकारवाली वस्तु देश और काल की सीमा में बद्ध होती है, ससीम और सान्त होती है, परन्तु प्रभु निराकार और अनन्त है। उसके समान या उससे अधिक कोई भी नहीं है। वह अनुपम और अद्वितीय है।

सन्ध्या करते हुए जब हम मनसा परिक्रमा के मन्त्रों पर ध्यान देते हैं तो प्रभु को चारों ओर, ऊपर और नीचे—सभी दिशाओं में विराजमान पाते हैं। उपस्थान मन्त्रों में बाहर से हटकर उसे हम अपने अन्दर व्याप्त हुआ अनुभव करते हैं। इस प्रकार प्रभु हमारे निकट से निकट और दूर से दूर है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में इसीलिए उसे 'तद्दूरे तद्वन्तिके' कहा गया है।

महः का एक अर्थ पूजनीय भी होता है। प्रभु पूजनीयों का भी पूज्य है। ऋग्वेद ८–९६-४ ने उसे 'यज्ञियं यज्ञियानाम्' कहा है। जहाँ एक ओर प्रभु यज्ञियों का भी यज्ञिय, पूज्यों का भी पूज्य है, वहाँ वह दूसरी ओर 'च्यवनम् अच्युतानाम्' अच्युतों को भी च्युत करने वाला है। वह 'सत्त्वनाम् केतु'—बलवानों में शिरोमणि है। अतः जिसे अपने बल का गर्व है, जो इस गर्व के कारण मदोन्मत्त है और अपने को सर्वदा इस उन्मत्त पद पर बैठा हुआ समझता है, बलवानों में शिरोमणि प्रभु उसे गिरा ही देता है। ऐसे अच्युतों को च्युत करने में विश्व की रक्षा का भार निहित है। इससे कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

ऋग्वेद के इसी मन्त्र में प्रभु को 'वृषभं चर्षणीनाम्' अर्थात् भक्त की कामनाओं को सफल करने वाला भी कहा गया है। वृषभ का अर्थ है वर्षा करने वाला। वर्षा होते ही पृथ्वी हरी-भरी हो जाती है, चारों ओर आशा और हर्ष की छटा छा जाती है। प्रभु जब अपनी दया की वर्षा करता है, तो भक्त की हृदय-भूमि कामनाओं के सफल होने पर आनन्द से ओत-प्रोत हो

जाती है। कठोपनिषद् के ऋषि ने इसीलिए कहा है :—'यो यदिच्छति तस्य तत्'।

प्रभु 'जनः' अर्थात् सारे संसार की उत्पत्ति करने वाला है। इस व्यवस्थित संसार का अस्तित्व न तो किसी संयोग (Chance) का परिणाम है और न अभाव का। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। अभाव से भाव और असत् से सत् का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसी हेतु वेद ने अनेक बार प्रभु को संसार का स्रष्टा कहा है। किसी वस्तु के उत्पन्न होने में तीन कारण होते हैं :—नैमित्तिक (Efficient), उपादान (Material) और साधारण। परमात्मा सृष्टि का नैमित्तिक कारण है। इसका उपादान कारण प्रकृति है। सृष्टि की रचना का उद्देश्य जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार फल देना और उनका उद्धार करना है। ऋग्वेद परमात्मा के साथ जीव और प्रकृति को भी अनादि मानता है।

सन्ध्या में अघमर्षण मन्त्र आये हैं जिनके अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति के समय सर्वप्रथम ऋत और सत्य दो नियम प्रकट होते हैं। ऋत के कारण संसार में गतिशीलता और सत्य के कारण उसमें स्थिरता रहती है। स्थिति और विनाश इन्हीं दोनों नियमों का परिणाम है। विनाश की खण्डप्रलय, प्रलय और महाप्रलय तीन अवस्थायें हैं। स्थिति में सूर्य-चन्द्र आदि पूर्व कल्प के समान ही रहते हैं।

प्रभु तपः अर्थात् परम-प्रकाशस्वरूप है। यजु० ३५—१४ में उसे अन्धकार से परे परमज्योति कहा गया है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् ६—१४ के अनुसार इस परम प्रकाश के आगे सूर्य, चन्द्र, तारकावलि, विद्युत्, अग्नि आदि किसी का प्रकाश नहीं ठहर पाता। वास्तव में प्रकाश के उस केन्द्र से ही ये सब अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं। उसके प्रकाश से ही ये सब चमकते हैं। गायत्री मन्त्र साधक के हृदय में इसी के भर्गः अर्थात् ज्वलन्त तेज को भरना

चाहता है। इसी प्रकाश के प्राप्त होने पर सद्बुद्धि जागृत होती है और सत्कर्मों को प्रेरणा मिलती है। इसी अजस्र ज्योति में घुल-मिल जाने की प्रार्थना नीचे लिखी ऋचा द्वारा तपःपूत ऋषि किया करते थे :—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते॥

हे परम पवित्र प्रभु ! अपने उसी अमृत अविनश्वर धाम में मुझे ले चलो जहाँ आनन्द ही आनन्द और प्रकाश ही प्रकाश प्रभूत मात्रा में विद्यमान है।

प्रभु सत्यम् अर्थात् अखंड, अक्षर, अविनाशी और एकरस है। वेदान्त की परिभाषा में इसी कारण उसे कूटस्थ और तटस्थ कहा गया है। वह सब का साक्षी और चेता होने पर भी परम कैवल्य भावना से युक्त और निर्गुण है। उसी की सत्ता से सब की सत्ता है। उसकी समरसता, एकरूपता, अखण्डता उसे अन्य सत्ताओं के कूट पर, शिखर पर स्थापित कर देती है। प्रभु का अपना रूप यही है। पर हम जीवों की अपेक्षा से उसके पर और अवर तथा निर्गुण और सगुण दो रूप हो जाते हैं। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में शुक्र, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू कहकर उसके सगुण रूप का और अकायम्, अव्रणम्, अपापविद्धम् आदि कहकर उसके निर्गुण रूप का निरूपण किया गया है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् का ऋषि इसी आधार पर नीचे लिखे श्लोक द्वारा प्रभु का कीर्तन करता है :—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

उस प्रभु के हाथ नहीं हैं, परन्तु वह सबको पकड़ लेता है; पैर नहीं हैं परन्तु महान् वेग से चलने वाला है; आँखें नहीं हैं, पर सबको देखता है; कान नहीं हैं, पर सब कुछ सुनता है। वह सबको जानता है, परन्तु उसका जानने वाला

उसको परिपूर्ण रूप में समझने वाला कोई नहीं है। योग दर्शन ने इसीलिये उसे क्लेश और कर्म-विपाक से अपरामृष्ट तथा पुरुषविशेष ईश्वर कहा है।

अपनी अपेक्षा से ही हम उसे अजर, अमर, अकल, अनीह, अनादि, अभय आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। उपनिषदों की नेति नेति कहकर प्रभु के स्वरूप को समझाने की प्रणाली का यही आधार है। केनोपनिषद् का ऋषि कहता है:—

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति। " " "
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। " " "
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। " " "

जो ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता अपितु वाणी जिससे प्रकट होती है, जो मन से चिन्तन नहीं करता किन्तु जिससे मन संकल्प-विकल्प करता है, जो आँख से नहीं देखता किन्तु जिससे नेत्र देखते हैं, जो कान से नहीं सुनता किन्तु जिससे यह कान सुना गया है, जो साँस से नहीं जीता, जिससे साँस आता-जाता है—तू उसी को ब्रह्म जान। ब्रह्म का जैसा वर्णन वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र और प्राण के सम्बन्ध से होता है, वैसा ब्रह्म नहीं है।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्रभु का वर्णन किया गया है। केनोपपिद् का ऋषि यह भी कहता है कि उस ब्रह्म तक न आँख जाती है, न वाणी जाती है और न मन जाता है। कोई किस प्रकार इसका उपदेश करे, हम नहीं जानते, नहीं समझते, क्योंकि वह जाने हुए से कुछ अन्य ही है और न जाने हुए से भी ऊपर है। ऐसा पूर्वजों से हमने सुना है जो हमारे लिये इसका वर्णन कर गये हैं।

तो क्या प्रभु सर्वथा अगम्य है? क्या हम उसे बिल्कुल समझ ही नहीं

सकते ? नहीं, ऐसा नहीं है। उसे हम कुछ-कुछ तो जानते ही हैं। सामवेद में एक स्थान पर प्रभु की उपमा ऐसी अग्नि से दी गई है जो प्रज्वलित तो है, पर साथ ही धूम्र से भी आवृत है।

जितनी अग्नि प्रज्वलित है उतनी दिखलाई देती है, परन्तु जितनी धूम्र से आवृत है उतनी दिखलाई नहीं देती। इसी प्रकार प्रभु कुछ तो प्रकट है, जाना हुआ है और कुछ ऐसा है जो अप्रकट है, अज्ञात और अविदित है। यूरोप के एक दार्शनिक ने ठीक ही कहा है:—God is both revealed as well as concealed. ईश्वर प्रकट और छिपा हुआ दोनों ही रूप का है। हम अल्पज्ञ जीव ईश्वर के पूर्ण रूप को समझने में असमर्थ हैं, पर उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान तो निश्चित रूप से हो ही रहा है। जहाँ कहीं ऋषियों ने उसे अज्ञात और छिपा हुआ कहा है, वहाँ उन्होंने हमारी इन्द्रियों की ससीम शक्ति की ओर विशेष रूप से इङ्गित किया है। यह ससीम शक्ति उस असीम के पूर्ण रूप को वास्तव में समझ ही कैसे सकती है ?

तो क्या वह छिपा है ?

हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि प्रायः यही कहते रहे कि प्रभु को समझने में हमारी इन्द्रियाँ और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अशक्त है। किसी ज्ञेय अथवा प्रमेय को समझने के लिये जो प्रमाण समर्थ हो सकते हैं वे प्रभु को जानने में असफल हो जाते हैं। कपिल ऋषि ने सांख्य में इसी आधार पर 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र बना दिया। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की हीनता को तो प्रायः सभी विद्वान् एक स्वर से इस सम्बन्ध में सिद्ध करते रहे। ईश्वर के लिये शब्द प्रमाण वेद था ही, उपमान प्रमाण द्वारा भी वेद ने और उपनिषद् के ऋषियों ने अनेक बार ईश्वर का वर्णन किया है। अनुमान के लिये प्रत्यक्ष का आधार चाहिये। अतः इन दोनों के सम्बन्ध में आनाकानी प्रायः चलती रही।

कदाचित् विश्व में सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने ही उच्च स्वर से यह घोषणा की थी कि ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब किसी जिज्ञासु ने उनसे प्रश्न किया कि आप ईश्वर-ईश्वर तो कहते हैं, पर उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हैं? तो ऋषि ने उत्तर दिया था:—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है। प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा:—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण किस प्रकार घट सकते हैं? ऋषि ने कहा:—महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन १–४ में प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण लिखा है उसके अनुसार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु यह ज्ञान निर्भ्रम हो। विचारणीय विषय यह है कि पंच ज्ञानेन्द्रिय और छठे मन के द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है अथवा गुणी का? मैं पृथ्वी को देखता हूँ। पृथ्वी के दर्शन में किस-किस बात का प्रत्यक्ष हो रहा है? आँखों से मैं पृथ्वी का रूप देखता हूँ, घ्राणेन्द्रिय द्वारा उसकी गंध को अनुभव करता हूँ, जिह्वा के द्वारा उसके रस का ज्ञान होता है। इस प्रकार जिन-जिन बातों का मुझे अनुभव होता है वे सब गुण हैं। इन गुणों का अनुभव आत्मायुक्त मन को पृथ्वी का प्रत्यक्ष कराता है। इस प्रकार सर्वप्रथम गुणों का ही अनुभव होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु के गुणों का अनुभव उस वस्तु के प्रत्यक्ष का कारण होता है, उसी प्रकार इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष, क्रमबद्धता, सप्रयोजनता, ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से उन गुणों के अधिपति गुणी परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि के द्वारा उसके ज्ञात होने में क्या संदेह हो सकता है? क्योंकि कार्य को देख कर कारण का अनुमान होता है।

ऋषि ने इस सम्बन्ध में एक बात और लिखी है। वे कहते हैं कि जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता है तो आत्मा के भीतर से बुरे काम के करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों को

करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। ऋषि का कथन है कि यह आत्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से होता है।

ऋषि ने परमेश्वर के प्रत्यक्ष के लिये आत्मा की शुद्धता पर अधिक बल दिया है। अशुद्ध, असंस्कृत, अविवेकी आत्मा भौतिक पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। स्थूल, साकार वस्तुओं का अनुभव ही जब उनके लिये अशक्य है, तो सूक्ष्म, निराकार तत्वों का अनुभव तो और भी अधिक अशक्य है। अतः आत्मा की शुद्धता इस विषय में सर्वप्रथम अपेक्षणीय है। ऋषि ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह उनके अनुभव और वेदादि शास्त्रों के आप्त प्रमाणों पर अवलम्बित है। संध्या के अन्तर्गत उपस्थान-मंत्रों में दूसरा मंत्र ऋषि के कथन की पुष्टि करता है। मन्त्र इस प्रकार है:—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

भावार्थ—(विश्वाय) विश्व भर में (सूर्यम्) उस परम सूर्य, चराचर के उत्पादक एवं प्रेरक परमेश्वर का दर्शन करने के लिये (केतवः) पताकायें फहरा रही हैं। जैसे रथ के ऊपर लगी हुई झण्डियाँ रथी का बोध कराती हैं, किसी सेना के झण्डे उस सेना के अध्यक्ष सेनापति या राजा का ज्ञान कराते हैं, उसी प्रकार ये झण्डियाँ उस जातवेदस देव का ज्ञान कराती हैं। ये झण्डियाँ क्या हैं? झण्डे, पताकायें या ध्वजायें आसमान में फहराती हैं। विश्वरूपी रथ की पताकायें सूर्य, चन्द्र और अगणित तारकावली भी आसमान में फहरा रही हैं। इन्हें देखते ही परमेश्वर, परमनियामक प्रभु का ज्ञान हृदय में उदय होने लगता है। सृष्टि में पाये जानेवाले परिपूर्ण नियम भी पताकाओं का काम करते हैं और उस जगन्नियन्ता का बोध कराते हैं। श्रुति भगवती स्वयं एक पताका है जो पद-पद द्वारा उस परम सत्ता के गुणों का उद्घाटन कर रही है। ऋषि, मनीषी, विद्वान्, क्रान्तद्रष्टा कवि उसी प्रभु के गुणगान में लीन हैं, और परिणामतः उच्च स्वर से पताका अथवा ध्वजा की भाँति उस

स्रष्टा एवं द्रष्टा प्रभु की विद्यमानता की घोषणा कर रहे हैं। और यदि आप कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि वनस्पति-वर्ग के पत्ते-पत्ते से, धरित्री के रेत के कण-कण से, पंचतत्त्वों के प्रत्येक परमाणु से उसी प्रभु की ध्वनि ध्वनित हो रही है जो अन्य समस्त सत्ताओं का कारण, उनका आधार और निधान है।

यह परम सत्ता नित्यों में नित्य और चेतनों में भी चेतन है। वेद इसे देवों का देव कहकर पुकारते हैं। यह सत्ता कवि, मनीषी, परिभू, और स्वयंभू कही गई है—सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अक्षर, अनन्त, महान, परम प्रकाश अमित ज्योति। निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में इस परम पूत सत्ता का वर्णन उपलब्ध होता है।

अच्छा, एक दृष्टि से और विचार कीजिए। जिस प्रकार शरीर को, देह को देखकर देही अथवा शरीरी का ज्ञान होता है, अवयवों और अंगों को देखकर अवयवी और अंगी का ज्ञान होता है, उसी प्रकार क्या इस परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो रहा?

अथर्ववेद ने इस निखिल ब्रह्माण्ड को प्रभु के शरीर से उपमित किया है। ब्रह्माण्ड-रूपी शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों का वर्णन करते हुए अथर्ववेद के इस सूक्त का ऋषि कहता है :—

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

यह भूमि उस परम ब्रह्म परमेश्वररूपी पुरुष के पैर हैं, अन्तरिक्ष उसका उदर है और स्वर्ग उसका शिर है।

सूर्य और बार-बार नया होनेवाला चन्द्रमा उसकी आँखें हैं। अग्नि उसका मुख है।

हवा उसका श्वास और प्रश्वास है। चक्षु अङ्गिरस[1] तथा दिशायें ज्ञान के साधक श्रोत्र हैं। इस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम हो।

रूपक अलंकार के द्वारा इन मन्त्रों में ब्रह्माण्डरूपी शरीर के सभी मुख्य अवयवों का वर्णन किया गया है। जैसे शरीर के क्रियाशील अंगों द्वारा आत्मा की चेतन सत्ता प्रकट होती है, उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि क्रियाशील अवयवों द्वारा परमपुरुष परमेश्वर का ज्ञान होता है। उपस्थान के तीसरे मन्त्र में प्रभु को 'आत्मा जगतः तस्थुषश्च' अर्थात् चर और अचर, जड़ एवं जङ्गम जगत् का आत्मा कहा गया है। इस प्रकार की ऋचाओं द्वारा सिद्ध होता है कि प्रभु की अनुभूति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सभी प्रमाणों द्वारा सिद्ध होती है।

इस प्रकार के रूपक वेद में और भी कई स्थानों पर आते हैं। यजुर्वेद के १७ वें अध्याय के १८ वें मन्त्र में परमात्मा को विश्वकर्मा कहा गया है।[2] आगे २०वें मन्त्र में ऋषि प्रश्न करते हुए लिखते हैं:—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।

अर्थात् वह कौन सा वन है, वह कौन सा वृक्ष है, जिससे उस विश्वकर्मा तक्षा ईश्वर ने इस द्यावा-पृथिवी का निर्माण किया है? जिस प्रकार तक्षा (बढ़ई) लकड़ी से विविध प्रकार के पदार्थों की रचना करता है, उसी प्रकार परमात्मा प्रकृतिरूपी वन या वृक्ष से इस समग्र संसार की रचना करता है।

---

१. जिस क्रम से मन्त्रों में अङ्गों का वर्णन हुआ है, उसके अनुसार चक्षु ब्रह्माण्ड का एक अङ्ग है और अङ्गिरस शरीर का। शरीर में अङ्गिरस अङ्गों के रस अर्थात् प्राण या शक्ति का नाम है। अतः ब्रह्माण्ड में चक्षु विद्युत् या महाप्राण को कहेंगे।

२. यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा।

जैसे निर्मित पदार्थों से उनके निर्माता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार विविध प्रकार के रचनात्मक संसार से उसके रचयिता ईश्वर का बोध होता है।

पुरुषसूक्त में प्रभु को सहस्रों आँखों वाला, सहस्रों शिरों वाला और सहस्रों पैरोंवाला पुरुष कहा गया है।[1] यजुर्वेद के १७वें अध्याय के १९वें मन्त्र में लिखा है कि वह ईश्वर विश्वतश्चक्षुः, विश्वतोमुखं, विश्वतोबाहु और विश्वतस्पात् है, अर्थात् ईश्वर के चक्षु, मुख, बाहु और पैर सभी ओर हैं। इन रूपकों के द्वारा श्रुति भगवती ने उस परम पुरुष का ही वर्णन किया है।

नीचे लिखे मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से वेद ने घोषणा की है कि ईश्वर छिपा हुआ नहीं है। वह अनावृत, अभिव्यक्त एवं सधःस्थ अर्थात् हमारी आँखों के सामने विराजमान है। मन्त्र इस प्रकार है:—

सदा व इन्द्रश्चर्कृषत आ उपो नु स सपर्यन्।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः। (साम० पू० ३–१–१–३)

अर्थात् वह देव, वह सर्वशक्तिमान्, परमैश्वर्य-मंडित परमेश्वर आवृत, आच्छादित, ढका हुआ या छिपा हुआ नहीं है। वह आँखों से ओझल नहीं है। जिनके आँखें हैं, जो धीर, वीतराग, क्षीणदोष—यति हैं वे प्रभु को आत्मस्थ, अपने ही अन्दर स्थित और विराजमान रूप में देखते हैं। मन्त्र में फिर कहा है कि वह प्रभु सदैव तुम्हें अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। वह तुम्हारे उप—अत्यन्त समीप है और सर्वदा तुम्हारी सेवा में निरत है, तुम्हारे अभ्युत्थान में लग्न है। इस लेख के प्रारम्भ में ही हमने ऋषि दयानन्द के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं जिनमें ऋषि ने लिखा है कि बुरे कर्म में प्रवृत्त होते ही हमारे अन्दर परमात्मा की ओर से भय, शंका और लज्जा के रूप में उस कर्म को न करने का संदेश जागृत होता है। साथ ही शुभ कर्म में प्रवृत्त होते ही आनन्दोत्साह का भाव उठता है। यही हमारे लिये परमात्मा का सेवाकार्य

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

है। प्रभु हमें सर्वदा अभ्युत्थान की ओर प्रेरित कर रहा है और कहता है:—'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'—पुरुष ! ओ प्राणी ! तुझे ऊपर की ओर, उन्नति की ओर चलना है; नीचे की ओर, अवनति की ओर नहीं।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में लिखा है 'तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।' वह प्रभु निकट से निकट और दूर से दूर है। वह सबके अन्दर व्याप्त है और सबके बाहर भी वर्तमान है। वेद के इन शब्दों से प्रभु की सूक्ष्मता और महत्ता प्रकट होती है। सूक्ष्म वस्तु स्थूल वस्तु के अन्दर समा सकती है और विशाल वस्तु के अन्दर लघु अथवा अल्प। उपनिषद् ने इसी हेतु प्रभु को 'अणीयांसमणोरपि' और 'महतो महीयान्' कहा है। सूक्ष्म वस्तु स्थूल वस्तु में कैसे व्याप्त हो सकती है—इसके लिये उपनिषद् के ऋषि ने अग्नि, वायु और आकाश के उदाहरण दिये हैं। भौतिक पदार्थों में आकाश सर्वाधिक सूक्ष्म है और इसी हेतु वह समस्त भौतिक पदार्थों में व्याप्त है। ईश्वर की व्यापकता का अनुभव करने के लिये हमें आकाश की व्यापकता का ध्यान करना चाहिये। वेद ने भी 'ॐ खं ब्रह्म' कह कर प्रभु की व्यापकता और विशालता को खं अर्थात् आकाश की उपमा देकर वर्णित किया है। वायु और अग्नि भी अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। अग्नि काष्ठ, उपल या लोहे में व्याप्त होकर तद्रूप भासित होने लगती है। आत्मा भी मानव, पशु, पक्षी आदि के शरीरों में व्याप्त होकर तद्रूप भासित होने लगता है, परन्तु वह वास्तव में उसका स्वरूप नहीं होता। परमात्मा को भी इसी प्रकार विश्व-वपु कहा गया है। परन्तु वह महान से भी महान है। ब्रह्माण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। वेद ने इसी तथ्य को 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' कहकर समझाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रभु के एक भाग में यह निखिल ब्रह्माण्ड है, जिसके तीन भाग इस ब्रह्माण्ड से भी बाहर हैं—वह कितना महान है, कितना विशाल है—

इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब ब्रह्माण्ड का स्वरूप ही अल्पज्ञ जीवात्मा की कल्पना से पृथक् है, तो प्रभु के महान स्वरूप की कल्पना करना तो कोरी बात की बात है। उपनिषद के शब्दों में महतो महीयान् कह कर ही संतोष करना पड़ता है। पर जैसा प्रथम लिखा जा चुका है, क्षीण-कल्मष यति, पूत आत्मा अपने अन्दर स्थित, सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभु का साक्षात्कार करते हैं। अतः प्रभु शुद्ध बुद्धि, निर्मल मानस प्राणियों की अनुभूति से पृथक नहीं है—इसे वेद और उपनिषद के ऋषि डङ्के की चोट कह रहे हैं। यह तो हुई उसके वास्तविक रूप की बात, परन्तु जैसे आत्मा का ज्ञान उसके गुणों और कर्मों के प्रकाश तथा क्रियाशील शरीर द्वारा होता है, उसी प्रकार प्रभु का ज्ञान सृष्टि में फैली हुई उसकी रचना-शक्ति और क्रियाशील ब्रह्माण्ड के अवयव सूर्य, चन्द्रादि द्वारा हो रहा है। वेद स्वयं कहता है:—

> विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
> इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋ० १—२—७

विष्णु, सर्व व्यापक ईश्वर के कर्मों को देखो, इन्हीं कर्मों को देखकर तुम्हें व्रत-नियम दिखलाई देने लगेंगे। यह ईश्वर ही इन्द्र, इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का उपयुक्त सखा है।

कर्मों के संबंध में श्वेताश्वतर उपनिषद कहती है—'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'—प्रभु के ये कर्म स्वाभाविक हैं। ये कर्म विश्व में प्रकट हो रहे हैं। सृजन, पालन, संहार—सृष्टि में परिलक्षित होनेवाले ये त्रिविध कर्म क्षण-क्षण में हो रहे हैं। सृष्टि का अर्थ है—वह वस्तु जो रची गई है। रचना रचयिता का बोध कराती है, यह प्रथम ही लिखा जा चुका है। जो वस्तु निर्मित हुई है वह एक दिन अवश्य ध्वंस को प्राप्त होगी। उत्पत्ति और ध्वंस के बीच में स्थिति आती है। मानव मध्यमा प्रतिपदा से चलने वाला है, इसलिए यही बीच की स्थिति उसको अधिक आकर्षित करती है।

सृष्टि में दिखलाई देनेवाला प्रभु का दूसरा कर्म सृष्टि की व्यवस्थाहै। इसी व्यवस्था, नियम-बद्धता को देखकर मानव अपने जीवन को व्यवस्थित करने में लगता है। वनस्पति से लेकर ग्रह–नक्षत्र पर्यन्त यह व्यवस्था कार्य कर रही है और अपने व्यवस्थापक—नियामक की ओर बार–बार निर्देश करती है।

सृष्टि विभिन्नरूपा होती हुई भी एक है। भिन्न-भिन्न दिखलाई देनेवाले पदार्थ ध्यान देने पर एक ही वृक्ष की दो शाखाओं के समान प्रतीत होने लगते हैं, जिनका मूलस्रोत एक ही है। सृष्टि की यह एकता एकेश्वरवाद का पूर्णरूप से समर्थन करती है।

सृष्टि की एकता और नियम-बद्धता उसकी सप्रयोजनता की ओर भी संकेत करती है। सप्रयोजनता अथवा सोद्देश्यता के साथ सृष्टि की विशालता भी प्रभु के कर्मों में से एक अद्भुत कार्य है। ये सभी कार्य सिद्ध करते हैं कि सृष्टि का रचयिता है, वह एक है, महान से महान और सूक्ष्म है; अतः सर्व व्यापक है; सोद्देश्य और नियमबद्ध, व्यवस्थित कार्यों के कारण असाधारण ज्ञान वाला है, विशाल विश्व के नियमन एवं शासन के लिए अपरिमित शक्ति का आगार—सर्वशक्तिमान है।

प्रभु के इन्हीं कार्यों को देखकर एक ओर उनके कर्ता का ज्ञान होता है और दूसरी ओर मानव अपने क्रिया-कलाप की गतिविधि भी सीखता है। नियमपूर्वक व्रती बन कर चलनेवाला मानव प्रभु को अपने सखा के रूप में अनुभव करने लगता है।

वेद ने अनेक बार प्रभु को शम्भव, मयोभव, शंकर और कल्याणकारी बतलाया है। सृष्टि का प्रयोजन ही जीवात्मा को मुक्ति की ओर जाना है। इसी हेतु प्रभु को दयालु भी कहा जाता है और प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का फल-प्रदाता होने के कारण वह न्यायकारी है।

प्रभु के ये कार्य वास्तव में केतु हैं, जो फहराते हुए प्रभु का परिचय दे रहे हैं। विश्व में अनेक अनीश्वरवादी और नास्तिक हुए, पर उन सबकी युक्तियों की धज्जियाँ उड़ाते हुए ये केतु अब भी फहरा रहे हैं। कवि के शब्दों में—'ये वो दुश्मन हैं जो हँस-हँस के दग़ा देते हैं।' इस दृष्टि से विचार करने पर प्रभु छिपा नहीं रहता। वह उतना ही प्रकट है जितना मैं स्वयम्।



साधन

भगवान की भक्ति में निराकार और साकार का पचड़ा नहीं पड़ता। प्रभु स्वरूप से निराकार हैं और भक्ति की भूमिका में जितनी भावनायें आती हैं, वे सब उनके इसी स्वरूप से सम्बद्ध हैं; फिर भी जब वेद उन्हें विश्ववपु अथवा तस्थुप (स्थावर) एवं जंगम जगत का आत्मा कहता है और भूमि को पैर, द्युलोक को शिर और सूर्य-चंद्र को उनके चक्षु मानता है तो यह निखिल ब्रह्माण्ड उनका शरीर हो ही जाता है। हाँ, जिस प्रकार जीवात्मा शरीरी है, उस प्रकार परमात्मा नहीं है। जीवात्मा शरीर में बद्ध है; परमात्मा विश्ववपु होते हुए भी सतत मुक्त है। जीवात्मा एकदेशी है; परमात्मा देश-काल की सीमा से पृथक् , विभु, सर्वव्यापक और इस दशांगुल प्राकृतिक जगत को भी अतिक्रांत करके विद्यमान है। जीवात्मा अल्पज्ञ तथा कर्मबंधन के कारण आवागमन के चक्र में पड़नेवाला है; परमात्मा सर्वज्ञ, आवागमन के चक्र से पृथक् और नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। अतः जिस प्रकार जीवात्मा को शरीरी कहा जाता है; उस प्रकार परमात्मा को नहीं कहा जा सकता।

कुछ विद्वान निराकार और साकार का अर्थ निर्गुण और सगुण किया करते हैं, यह भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। निर्गुणता और सगुणता का आरोप निराकार और साकार दोनों प्रकार के पदार्थों पर हो सकता है। वेद में अनेक स्थानों पर प्रभु के निर्गुण और सगुण रूप का वर्णन हुआ है। ईश्वर अपने गुणों से युक्त होने के कारण सगुण और प्राकृतिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है।

भक्ति की विवेचना में सर्वप्रथम स्तुति आती है जिसमें प्रभु के गुणों का गान, उसकी विशेषताओं का वर्णन, कमनीय कलाओं का कीर्तन और उसके स्वरूप को हृदयंगम करना होता है। प्रभु का निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार का रूप भक्त के सामने आता है। इस ब्रह्माण्ड को ही प्रभु का शरीर समझकर जो भक्त भक्ति में निरत होता है उसकी साधना प्राणिमात्र की सेवा में चरितार्थ होती है। वह विश्व के प्रत्येक रूप को प्रभु समझकर उसकी सेवा एवं आराधना में संलग्न हो जाता है। 'सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी'—गोस्वामी तुलसीदास की यह अर्धाली इसी भावना से प्रेरित होकर लिखी गई है। भक्ति के क्षेत्र में इन दोनों ही पद्धतियों का समावेश है।

प्रभु तक पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं। एक मार्ग अत्यन्त कष्टकर साधना का है और दूसरा प्रभु के अनुग्रह का। वेद में भगवान स्वयं कहते हैं:—

अहमेव स्वयमिदम् वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुपेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणम् तं ऋषिं तं सुमेधाम् ॥

ऋ० १०—१२५—५

अर्थात् प्रभु का अनुग्रह जिस पर हो गया वही ब्रह्मा, वही ऋषि और वही श्रेष्ठ मेधावी बन जाता है। कठोपनिषद् का ऋषि भी इसी स्वर में निमग्न होकर कहता है:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ २—२३

अर्थात् प्रभु की प्राप्ति न बहुत बोलने से होती है, न मेधा के द्वारा और न बहुत सुनने तथा ज्ञानी बनने से। वह प्रभु जिसे चुन लेता है वही उसे प्राप्त कर सकता है और उसी के सम्मुख वह अपने समग्र रूप को प्रकट कर देता है। उर्दू के एक कवि ने लिखा है:—

श्राये महूर खुद बेताव है जज्बे मुहब्बत से।
हकीकत वर्ना सब मालूम है परवाज़ शबनम की ॥

प्रातःकाल घास के ऊपर चकमती हुई ओस की बूँदें सूर्य की किरणों के चारों ओर फैलते ही उड़कर ऊपर पहुँच जाती हैं। क्या ये बूँदें अपनी शक्ति से ऊपर उठ जाती हैं? कवि कहता है, नहीं, सूर्य की किरणें ओस की बूँदों के प्रति अपने प्रेमभाव को प्रकट होने से रोक नहीं सकतीं। बेताब होकर हाथ फैलाये हुए वे ओस की बूँदों के पास पहुँच जाती हैं और उन्हें अपनी गोद में उठाकर ऊपर ले जाती हैं। इसी प्रकार प्रभु प्रेम के कारण अनुग्रह करता हुआ जीव को उठाकर अपनी गोद में बिठा लेता है—अपना आनन्द रूप उसके सामने प्रकट कर देता है—उसे आनन्दमय बना देता है।

तो प्रभु किसको चुनता है, कौन उसका अनुग्रह-भाजन बनता है, किसका सौभाग्य इस सफलता को उपलब्ध करता है? निःसन्देह ऐसा मानव वही हो सकता है जो 'सब तज हरि भज' की भावना में लीन है। पर क्या यह भावना एक दिन में आ जाती है? नहीं, अनेक जन्मों की साधना इसके पीछे होती है। गीता के शब्दों में 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। तथा—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

इस साधना में सतत अभ्यास करना पड़ता है, ऐसा अभ्यास जिसमें चित्त किसी दूसरी ओर जाने की आकांक्षा तक न करे। प्रभु का निरन्तर चिन्तन, उनके सामीप्य की अनवरत अनुभूति, पल-पल में उनके सधःस्थ, सामने उपस्थित रहने की भावना भक्त की साधना को परिपक्वता की ओर ले जाती है। अत्यन्त विरल हैं वे व्यक्ति जो इस दिशा में चलने का उपक्रम करते हैं और इसी हेतु अत्यन्त विरल हैं वे व्यक्ति जो प्रभु के अनुग्रह-भाजन बनते हैं। पर सामञ्जस्य की दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति इस भावना के सम्मुख ज्ञान

और कर्मकाण्ड को थोथा और व्यर्थ कभी नहीं समझते और न समझना ही चाहिये।

वेद ने प्रभु की प्राप्ति के लिये ज्ञान और कर्म की सार्थकता का अनेक वार वर्णन किया है। भक्ति का सर्वप्रथम अंग—स्तुति—प्रभु के स्वरूप को समझने और हृदयंगम करने के लिये ही तो है। श्रुति भगवती जब कहती है :—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अयन के लिये, अपने घर पहुँचने के लिये मृत्यु का, प्रकृति के तीनों—उत्तम, मध्यम और अधमपाशों का अतिक्रमण करना, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से सम्बन्ध विच्छिन्न करना एकान्त आवश्यक है। यह क्रिया उस महान प्रकाशपूर्ण प्रभु के सम्यक् ज्ञान द्वारा ही सिद्ध होती है। अतः इस दिशा में ज्ञान की महत्ता स्पष्टरूप से स्वीकार की गई है। स्कौटलेण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम हैमिल्टन ने एक स्थान पर लिखा है :—"On earth, there is nothing so great as man. In man there is nothing so great as mind." विश्व में मानव से बढ़कर अन्य कोई प्राणी नहीं है और मानव में ज्ञान शक्ति से बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है। इस सर्वोत्तम शक्ति का प्रयोग अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में अनिवार्य है। सामवेद उत्तरार्चिक मंत्र १२३१ में जीव की नाना गतियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसकी 'नृपूत' मानव उत्पत्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। मानव की यह सर्वश्रेष्ठता उसके ज्ञान के ही कारण है। ज्ञान के साथ कर्म भी आवश्यक है। यजुर्वेद का प्रथम मंत्र 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' श्रेष्ठतम कर्म करने के लिये आदेश करता है और अन्तिम अध्याय में तो यहाँ तक कह दिया गया है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

मानव कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की आकांक्षा करे। पर कर्म इसीलिये करे कि वह करणीय है। कर्तव्य कर्म को करता हुआ मानव उस कर्म में लिप्त नहीं होता। मुक्ति का यही मार्ग है। गीता ने भी निष्काम कर्म की महत्ता 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' तथा 'कार्यम् कर्म समाचर' कहकर प्रदर्शित की है। उसके १८वें अध्याय में तो इसी कसौटी पर प्रत्येक बात को उत्तम ठहराया गया है।

निम्नलिखित ऋचा में प्रभु को अपने अन्दर समिद्ध करने, उसकी ज्योति को जगाने के साधनों का वर्णन हुआ है :—

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि ईन्धे त्वा दीक्षितोऽहम् ॥

प्रभु व्रतपति हैं, नियमों के पालक और रक्षक हैं। अतः साधक को सर्वप्रथम व्रत की दीक्षा लेनी पड़ती है। श्रद्धा के विना दीक्षित होना व्यर्थं जाता है। अतः व्रत के साथ श्रद्धा का होना साधना के लिये परमावश्यक है। श्रद्धा के साथ व्रत में दीक्षित होकर साधक प्रभु की ज्योति को जगाने के लिये समिधा रखता है। अपने को प्रभु के समर्पण करता है। और उस समिधाधानरूपी समर्पण द्वारा वास्तव में अपने को ही समिद्ध करता है। प्रभु की ज्योति तो निरन्तर जग रही है। भक्त प्रभु में अपने को रखकर उस ज्योति से स्वयं उद्दीप्त होता है और इस प्रकार प्रकाश पाकर मानों उसे अपने अन्दर प्रकाशित करता है। यह व्रत है अनृत से, तम से, मृत्यु से हटकर ऋत, सत्य, प्रकाश और अमृत की ओर चलना।

इस व्रत का व्रती, इस धुन का धनी मानव अपने समस्त अनृत को, तम को जो उसे मृत्यु की ओर ले जानेवाले हैं, दूर करने में प्रवृत्त होता है। वह कहता है :—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

बृहत् संसार का, विशाल लोकों का, स्वामी परमेश्वर मेरे चक्षु और चक्षु से उपलक्षित समस्त इन्द्रियों के दोषों, छिद्रों, त्रुटियों को दूर करे। मेरे हृदय और मन में, बुद्धि और चित्त में जो विकार हों उन्हें नष्ट करे और इस प्रकार मेरे साधनों को उपयुक्त पथ पर लगाकर मेरा कल्याण करे। मेरे कान कल्याणकारी शब्दों को ही सुनें और मेरी आँखें कल्याणकारी दृश्यों को ही देखें। मन की अत्युत्तम व्याख्या करने वाले शिव संकल्प के ६ मंत्रों में भी 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' को जो अन्त में दुहराया गया है, वह भी साधना में प्रवृत्त प्राणी की इसी अन्तःभावना को प्रकट करता है। साधक अन्दर-बाहर सब ओर से शुद्ध होना चाहता है। अनृत ही अशुद्धि है, विकार है; सत्य ही शुद्धि है, कल्याण है। कल्याण की कामना करनेवाला भक्त प्रभु से इसी पथ पर चलने की याचना करता है :—

स्वस्ति पन्था मनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥

कल्याण-पथ के पथिक को व्रती बनकर, दीक्षित होकर, श्रद्धा-सम्बल से समन्वित होकर कर्म में, तप में जुटना पड़ता है। सूर्य और चन्द्र बाहर प्राकृतिक जगत में, कितनी घनघोर तपस्या कर रहे हैं! कितना नियमबद्ध जीवन व्यतीत कर रहे हैं!! कल्याण की कामना करनेवाला साधक भी इनकी भाँति तपस्या में जुटता है। इस तपस्या के तीन अंग 'ददता', 'अघ्नता' और 'जानता' शब्दों के आधार पर दान, अहिंसा और ज्ञान के रूप में वर्णित हुए हैं और कहा गया है कि साधक इन तीनों के साथ सर्वदा लगा रहे।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के प्रथम मंत्र में 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' और 'मा गृधः' वाक्यों द्वारा त्याग भाव और लोभ न करने के भाव पर विशेष बल दिया गया है। त्याग और दान समानार्थक शब्द हैं। अहिंसा शब्द भी बहुत व्यापक है और उसमें लोभ न करने का भाव समाविष्ट है। तीसरे मंत्र में आत्मा का हनन न करना अहिंसा के आन्तरिक एवं व्यक्तिगत रूप का द्योतक है।

वेद में प्रभु को अनेक वार 'देवहितम्' 'देवानाम् चित्रम् अनीकम्' और 'देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुतः' कहा गया है। ईश्वर देवताओं का, दिव्य गुणधारियों का हितकारी है, उनका विचित्र बल है और अद्भुत मित्र है। साधक को यदि प्रभु का बल प्राप्त करना है तो उसे दिव्यगुण धारण करने पड़ेंगे, देवों की सुमति सुलभ करनी होगी, दैवी दान का समावेश और दिव्यगुणों की मैत्री ग्रहण करनी होगी—संक्षेप में उसे देव बनना होगा। गीता कहती है :—'दैवी सम्पद् विमोक्षाय'—दैवी सम्पत्ति मोक्ष की साधिका है। यदि जीव को मुक्त होना है तो वह दैवी सम्पत्ति का अधिष्ठाता बने। गीता के १६वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

निर्भीकता, प्रसन्नता, ज्ञान-प्राप्ति के लिये उद्योगशीलता, दान, इन्द्रिय-संयम, यज्ञ करना, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्यागभाव,

शान्ति, चुगली न करना, दया, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, गंभीरता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, निर्द्वेष, अतिमानी न होना—ये गुण दैवी पुरुष की सम्पत्ति हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान आसुरी सम्पत्ति कहलाते हैं और प्राणियों को भोग योनियों के कठोर कारागार में डालने वाले हैं। वेद में जिन दुरितों, दुर्वृत्तों तथा जुहुराण (कुटिल) एनः (पापों) से बचने की प्रार्थना की गई है वे आसुरी सम्पत्ति के अंग हैं। जो भद्र है, कल्याणकारी है, सुपथ है और जिसे प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है, वह दैवी सम्पत्ति है। गीता उपनिषदों का सार है। अतः उसके कथन का आधार उपनिषदें हैं। उपनिषदों में बार-बार ऋषि दैवी सम्पत्ति को ग्रहण करने का आदेश देते हैं। कठोपनिषद् का ऋषि कहता है :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २-२४
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ ३-१२

जो मनुष्य दुराचार से नहीं हटा, अशान्त है, स्थिर-बुद्धि नहीं है और अशान्त अर्थात् चंचल चित्त वाला है, वह केवल बुद्धिवाद से—शुष्क दार्शनिक तर्क से—ईश्वर को नहीं पा सकता। यह ईश्वर सब प्राणियों के अन्दर छिपा हुआ है : सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तियों द्वारा जाना नहीं जाता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी ऋषि उसे अपनी सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि द्वारा देख लेते हैं।

मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ३-१-५

यह ईश्वर जो शरीर के अन्दर ज्योतिर्मय और नित्यशुद्ध स्वरूप है और जिसे क्षीणदोष पवित्र यतिजन ही देखते हैं, सर्वदा सत्य से, तप से, यथार्थज्ञान से और ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है।

यही ऋषि आगे आठवें श्लोक में तप और कर्म के ऊपर निर्मल बुद्धि का अंकुश रखते हुए कहते हैं कि यथार्थज्ञान की निर्मलता से जब तक बुद्धि पवित्र नहीं बन जाती और इस प्रकार की विशुद्ध बुद्धि के द्वारा जबतक भगवान का ध्यान नहीं किया जाता, तबतक उस निष्कल, निराकार ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। कठोपनिषद् के ऋषि ने तप और कर्म के अभाव में कोरे विज्ञान की हीनता प्रदर्शित की थी, यहाँ निर्मल ज्ञान के अभाव में तप और कर्म की हीनता प्रकट की गई है। दैवी सम्पत्ति के सभी गुणों का सम्पादन ईश्वर-साक्षात्कार के लिये आवश्यक है। अंगन्यास और अंगमार्जनवाले संध्या के मंत्रों में इसीलिये भक्त जहाँ प्रभु से प्राण, इन्द्रिय आदि को बलवान बनाने की प्रार्थना करता है वहाँ वह एक-एक अंग को अपने एक-एक साधन को पवित्र बनाने की भी विनय करता है। और शिर जो मन और बुद्धि का स्थान है, प्रार्थना में दो बार आता है। मस्तिष्क, मनन, चिन्तन, समझ, बुद्धि की पवित्रता परम आवश्यक है इसी कारण भक्त कहता है—ॐ भूः पुनातु शिरसि·········ॐसत्यं पुनातु पुनः शिरसि।

मुंडक उपनिषद् के द्वितीय खण्ड के चतुर्थ श्लोक में भी बल, सजगता, तप, कर्म, त्याग आदि सबके समन्वय पर बल दिया गया है। दैवी सम्पत्ति के सभी गुणों के साधन द्वारा हरि की कृपा सुलभ होती है। सभी साधनों से भजन अभ्यास करता हुआ साधक ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। ज्ञान और भक्ति का समन्वय करती हुई गीता कहती है :—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ ५।१७।

जिस साधक ने अपनी बुद्धि, अपना आत्मा, अपनी श्रद्धा और अपना विश्वास प्रभु में लगा दिया है, जो प्रभु को ही अपना सर्वस्व समझते हैं, जिनके समस्त पाप आत्मज्ञान से नष्ट हो चुके हैं, वे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

क्रियावान, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, चीर्णव्रत, साधनशील साधक मोक्ष-प्रदायिनी दैवी सम्पत्ति की ही सर्वदा कामना करते हैं। गायत्री मंत्र के जाप में वे परम प्रकाशमय, जगत के जनक, दिव्यगुणों की चरम सीमा उस भगवान के भर्ग को, तेज को धारण करते हुए उससे सदसद् विवेकिनी निर्मल बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं और 'अभयं नः करत्यन्तरिक्षम्' तथा 'अभयं मित्रादभयममित्रात्' मंत्रों के जाप में वे सब ओर से और सभी से निर्भय हो जाने की विनय में लीन हैं। पवित्र बनने की भावना स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती है। इस दैवी सम्पत्ति द्वारा ही वह नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, सर्वभूतों की अन्तरात्मा, राजाओं का राजा, देवों का देव, रक्षकों का रक्षक, परम से परम, ज्योतियों की ज्योति, सर्वव्यापक निष्कल, विरज, शुभ्र, रुक्मवर्ण ब्रह्म प्राप्त होता है। जिसने इसे जान लिया उस कृतात्मा आप्तकाम जीव को फिर और कुछ जानना शेष नहीं रहता। वह आत्मक्रीड, आत्मरति अपने में ही क्रीडा करता हुआ अपने आप में ही प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, क्रियाशील होकर भी निष्क्रिय, शरीर से मृत होकर भी जीवित, हृदय-ग्रंथि से शून्य, सर्वसंशयों से रहित, क्षीणदोष, क्षीणकर्मा वीतशोक ब्रह्मज्ञानियों की श्रेणी में उत्तम पद पाता हुआ विचरण करता है। इस पूर्णकाम, प्रशस्त, विशुद्ध सत्त्व आत्मज्ञानी की मोक्षाभिलाषी साधकों को पूजा करनी चाहिये, सत्संग द्वारा सेवा करनी चाहिये। यह कार्य भी प्रभु प्राप्ति का साधक सिद्ध होता है।



भक्ति का विवेचन

विगत परिच्छेद में हमने प्रभु-प्राप्ति के लिये सन्तों द्वारा प्रदर्शित दो मार्गों की ओर निर्देश किया था और लिखा था कि वैदिक भक्ति दोनों मार्गों के समन्वय का नाम है। ज्ञान और कर्म सम्पत्ति का प्रभु के अनुग्रह के साथ सामञ्जस्य ही भक्ति का आदर्श है। ज्ञान और कर्मरूपी वृक्ष का परिणामरूपी फल उपासना कहलाता है। उपासना का अर्थ है प्रभु के समीप बैठना। उसके समीप बैठकर ही तो हम उसके अनुग्रह-भाजन—कृपापात्र बनते हैं। ज्ञान मानव-मस्तिष्क का आहार है, कर्म उसकी प्राण-सम्पत्ति है और उपासना उसके हृदय की विश्राम-भूमि है, सन्तप्त हृदय की शीतल छाया है। आत्मा को इसी से सन्तोष और तृप्ति प्राप्त होती है।

वर्डस्वर्थ की एक कविता में परमेश्वर को सद्यः जात बालक का वास्तविक घर कहा गया है। बालक उत्पन्न होकर जैसे अपने घर से अभी-अभी संसार में आया हो, अपना घर छोड़कर किसी दूसरे घर में या बीहड़ वन में पहुँच गया हो। पर से—दूसरे से सर्वदा भय लगता है; निर्भयता तो अपने घर पहुँच कर ही प्राप्त होती है। भयभीत बालक अपने माता-पिता की गोद में पहुँचते ही निर्भय और प्रसन्न हो उठता है। जीवात्मा भी, इसी प्रकार, अपने पिता, अपनी माता, अपने वास्तविक घर परमेश्वर को प्राप्त करते ही खिल उठता है। उपासना का, भक्ति का, यही तो वास्तविक लक्ष्य है।

उपासना में लीन साधक, प्रभु के समीप बैठा हुआ भक्त, सर्वप्रथम प्रभु के दया, दाक्षिण्य, महत्त्व, ऐश्वर्य आदि गुणों की ओर अपनी दृष्टि ले जाता है।

वह प्रभु के कीर्तन में, स्तुति एवं गुणगान में लीन हो जाता है। इस कीर्तन में वह अपने और प्रभु के बीच में कुछ दूरी का भी अनुभव करता है; परन्तु यह दूरी, समीप बैठते-बैठते, अनवरत उपासना करते-करते, दूर होने लगती है। उसे प्रभु अपना ही सगा-सम्बन्धी प्रतीत होने लगता है। वेद कहता है—'त्वम् अस्माकम् तवस्मसि'—प्रभु तू मेरा है और मैं तेरा हूँ। आज के आलोचकों ने भक्ति का विकास दिखलाते हुए कहा था—'विश्व ने सर्व-प्रथम उस प्रभु को नियामक, शासक और दण्डदाता के रूप में अनुभव किया। उसकी शक्ति से प्राणी भयभीत और त्रस्त हुए। इसके पश्चात् वे उसको पिता कहने लगे। पिता कहते ही प्रभु उन्हें आत्मीय के रूप में भासित होने लगा। ईसा पुत्र है और परमात्मा पिता। पितृत्व की भावना बहुत दिनों तक मानव-हृदयों में घर किये रही। इसके पश्चात् प्रभु को माता के रूप में समझा जाने लगा जो प्रेम की मूर्ति है।' पर वेद भक्ति के इस विकास को व्यर्थ सिद्ध कर रहा है। संसार का प्राचीनतम साहित्य वेद प्रभु को राजा, पिता, माता, बन्धु, सखा आदि सभी रूपों में प्रकट करता है। इस सम्बन्ध के कुछ मंत्र नीचे दिये जाते हैं :—

प्रभु राजा है, शासक है :—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

प्रभु बन्धु है, जनिता—उत्पादक—पिता है और विधाता—धारण, पालन, पोषण, करने वाला है :—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

प्रभु पिता और माता है :—

त्वं हि नो पिता, वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

प्रभु मित्र है :—

देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुतः।

प्रभु सखा है :—

इन्द्रस्य युज्यः सखा । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ।।

वेद ने प्रभु को 'प्रिय' और 'अंग' अर्थात् प्रेमरूप कहा है। पाश्चात्य विचारक भी God is love कहकर प्रभु के प्रिय रूप का समर्थन करते हैं— संसार में यह प्रेम कई रूपों में अभिव्यञ्जित होता है। मित्र-मित्र में प्रेम होता है। सखा-सखा में प्रेम होता है। पति-पत्नी में प्रेम होता है। पिता-पुत्र अथवा माता-पुत्र में प्रेम होता है। गुरु-शिष्य में प्रेम होता है। राजा और प्रजा में प्रेम की भावना इस समय दिखलाई नहीं देती, पर आर्य-संस्कृति ने इसके भी अनेक उदाहरण विश्व के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। आर्य राजाओं ने अपना मुख्य धर्म प्रजा का अनुरंजन ही समझा है। प्रजा का अर्थ ही संस्कृत में पुत्र या सुत है। जिस प्रकार माता-पिता का धर्म अपने पुत्र का पालन-पोषण करना होता है, उसी प्रकार राजा का धर्म प्रजा का पालन-पोषण करना होता है जो प्रेम के विना हो नहीं सकता। वेद इसी हेतु प्रभु को प्रेम के इन सभी रूपों में प्रकट करता है। परन्तु प्रेम की जितनी तीव्रता वात्सल्य में प्रकट होती है, उतनी अन्य किसी रूप में नहीं। माता का जो प्रेम बच्चे के लिये होता है वह पति के लिये भी नहीं होता। पिता भी माता से बढ़कर प्रेम नहीं कर सकता। पशु-जगत् में पिता को अपनी सन्तान का पता भी नहीं रहता, पर माता अपने बच्चे को देखते ही रँभाने लगती है।

सद्यःप्रसूता गाय-भैंस अपने बछड़े को देखकर विविध हुंकारों तथा शिर हिलाने की चेष्टाओं द्वारा अपने प्रेम को प्रकट करती हैं। कवियों ने प्रेम की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिये गो-वत्स प्रेम के इस उपमान का अनेक वार उल्लेख किया है। वेद में भी यह उपमान कई स्थानों पर आया है। सामवेद उत्तरार्चिक मंत्र ११९३ में 'वत्सं न मातरः' कहकर प्रभु को बच्चा और साधकों को माताओं के रूप में माना गया है। जीव और ईश्वर के प्रगाढ प्रेम को प्रकट

करने के लिये ऐसा उपमान विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, इससे अधिक आकर्षक उपमान की तो बात ही क्या है।

वास्तव में प्रेम के ये विभिन्न रूप प्रभु के अनेक गुणों का प्रकाश करने वाले हैं। प्रभु के ये रूप मानव को विकास की परम्परा द्वारा प्राप्त नहीं हुये, प्रत्युत वे उसके सहज स्वाभाविक गुण हैं। भक्त स्तुति करता हुआ प्रभु के इन गुणों को अपने अन्दर अनुभव करता है और इस प्रकार प्रभु के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। उसे प्रभु अपना ही समझ पड़ता है।

यह अपनापन इतना घनिष्ठ हो जाता है कि भक्त क्षण भर के लिये भी अपने प्रभु से दूर नहीं होना चाहता और इसी हेतु प्रार्थना में निरत होकर कहने लगता है:—

माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु ।

मैं प्रभु को अपने से दूर न करूँ। प्रभु मुझे अपने से दूर न करे। मेरा और प्रभु का निरन्तर साथ बना रहे। पहले वह भक्त प्रभु को अपने से दूर समझकर कहा करता था:—

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

दीक्षा और तप के साथ ब्रह्मज्ञानी जहाँ जाते हैं, ब्रह्मा मुझे वहीं पहुँचा दे; ब्रह्मा उस ब्रह्म को मेरे अन्दर धारण करा दे। पर प्रभु का गुणगान करते हुए यह दूरी छिन्न-भिन्न हो गई। भक्त और प्रभु के बीच अपनेपन का सम्बन्ध स्थापित हो गया। अब तो भक्त प्रभु के सामने है और प्रभु भक्त के सामने है। दोनों एक दूसरे के सधस्थ हैं, सम्मुख स्थित हैं। सन्तों ने भक्त और प्रभु की सधस्थता का कैसा आकर्षक वर्णन किया है:—

हिरदे भीतर आव तूँ, ज्यों हूं नैन झँपेउ ।
ना हों देखों और कों, ना तोइ देखन देउँ ॥

लोक-मर्यादा के अन्तर्गत पत्नी जब पति के साथ होती है तो वहाँ अन्य किसी को अपने पास नहीं आने देती। वहाँ वे ही दोनों दम्पति एक दूसरे के सधस्थ—आमने-सामने रहते हैं। उपासना की भूमिका में भी भक्त के सम्मुख प्रभु ही विद्यमान रहता है, अन्य कोई वासना या भावना नहीं रहती। उपनिषद् के शब्दों में उस समय—'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥' मुण्डक २-२-११। भक्त के आगे, पीछे, दाहिने और बाईं ओर, नीचे, ऊपर सर्वत्र अमृतरूप ब्रह्म रहता है। भक्त को अपने अन्दर और बाहर ब्रह्म का ही प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त प्रभु से किसी भी प्रकार दूर होना नहीं चाहता। पर यह मधुमती भूमिका, शारीरिक पाशों के रहते हुए अधिक देर तक नहीं ठहरती। व्युत्थान की वृत्तियाँ भक्त को आकर धर दबाती हैं और वह प्रभु से वियुक्त सा होकर विलखने लगता है। भक्ति-तरंगिणी लिखते हुए प्रभु की स्तुति करने वाले मंत्र तो मनोरम लगे ही, पर जब मैं भक्त की प्रार्थना, आह्वान और क्रन्दन का अभिव्यंजन करने वाले मन्त्रों पर पहुँचा तो मुझे वहाँ आत्मा की स्पष्ट पुकार सुन पड़ी। मन्त्रों के अन्दर विद्यमान आकर्षण का वर्णन मैं किन शब्दों में करूँ? मंत्रों में अङ्कित भावों को ग्रहण कर मैंने जो गीत बना दिये हैं वे मेरी अनुभूति को कुछ प्रकट कर सकेंगे। इन मन्त्रों में कहीं आत्मनिवेदन है, कहीं विनय है, कहीं विरह-पीडा है, कहीं घर पहुँचने की अभिलाषा है, कहीं अपना दैन्य और साधन-अक्षमता है, कहीं विचारणा, व्याकुलता और पश्चात्ताप की भावनायें हैं, कहीं प्रभु की उदारता, क्षमता, शरणागतवत्सलत्ता और तज्जन्य आश्वासन है, कहीं अपने पापों का स्मरण और कहीं उद्बोधन एवं समर्पण है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का जो गहन विवेचन किया है, उसकी समग्र पृष्ठभूमि वेद के इन मन्त्रों में उपस्थित है। भक्ति या उपासना संसार-संतप्त आत्मा की शाश्वत पुकार है। वह किसी संप्रदाय विशेष के बन्धनों में आबद्ध नहीं होती। भावनायें विद्यमान हैं, उनका

नामकरण, सिद्धान्त-विवेचन कोई चाहे कभी करे। मन्त्रों के नीचे लिखे उद्धरण इस दिशा का ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त होंगे:—

विचारणा—वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
विमे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥
ऋ० ६-९-६

पश्चात्ताप—य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वां आगांसि कृणवत्सखाते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरुथम्॥
ऋ० ७-८८-६

समर्पण— न घेम अन्यत् आपपन् वज्रिन् अपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत्। सा० उ० १-२-३ ऋ० ८-२-१७

उद्बोधन—न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्याः चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
यजु० १७-३१

विनय— उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽदितये स्याम॥ऋ० १-२४-१५

व्याकुलता—अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृकय सुक्षत्र मृकय। ऋ० ७-८९-४

दैन्य— न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
ऋ० २-२७-११

पुकार— इमम्मे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृळय। त्वमवस्युराचके।
ऋ० १-२५-१९

अभिलाषा—यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः। ऋ० ८-४४-२३

प्रभु की सक्षमता और शरण्यता—

उरुं नो लोकं अनुनेषिविद्वान् स्ववंत् ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥
ऋ० ६-४७-८

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिपक्ति विश्वं यत्तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यत् निः श्रोणोभूत् ॥ ऋ० ८-७९-२

विरह—उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किम्मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥
ऋ० ७-८६-२

इन उद्धरणों के अतिरिक्त भक्तितरंगिणी को पढ़ते हुए पाठक अनेक वार ऐसे मन्त्रों को पढ़कर आकर्षित होंगे जिनमें उनके अपने हृदय की अनुभूति छिपी हुई मिलेगी ।

स्तुति, विनय, प्रार्थना आदि समस्त विपयों में मानव-हृदय के उद्गार लगभग एक ही रूप में प्रकट होते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ, भक्तितरंगिणी में मैंने प्रथम स्तुतिपरक मन्त्रों को स्थान दिया है, इसके पश्चात् प्रार्थना और विनय के मन्त्र हैं । प्रार्थना के पश्चात् आह्वान, पुकार, व्याकुलता और क्रन्दन की भावनाओं को प्रकट करने वाले मन्त्र हैं । इसके पश्चात् साधन और फिर सिद्धि के सूचक मन्त्र रखे गये हैं । जो विद्वान् वेदों को अपराविद्या के ही अन्तर्गत स्थान देते हैं, वे इन मंत्रों को पढ़कर उनमें पराविद्या, ब्रह्मविद्या, अध्यात्म ज्ञान के भी प्रभूत अंकुर विद्यमान देखेंगे । मनु के शब्दों में तो 'वेदोऽखिलो-धर्ममूलम्' है ही, ऋषि दयानन्द के शब्दों में भी 'सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदि मूल परमेश्वर है' और वेद प्रभु की वाणी है अतः 'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक' है । अध्यात्मविद्या सर्वश्रेष्ठ सत्यविद्या है । उसके परिचायक कतिपय मन्त्रों का संग्रह इस भक्ति-तरंगिणी

में है। भक्ति की यह तरंगिणी परम पूत भावनाओं की तरंगों से, लहरों से, ओतप्रोत है जिनमें अवगाहन करके, डुबकी लगा करके, संकट के अवसरों पर मैंने शान्ति प्राप्त की है। आशा है, प्रेमी पाठक भी इस ग्रन्थ का अनुशीलन करके शान्ति प्राप्त करेंगे।

ऋषि तर्पण का यह लघु प्रयास परम ऋषि परमेश्वर का प्रसाद प्राप्त करे।

ॐ नमः परमऋषिभ्यः नमः परमऋषिभ्यः ॥



विषय सूची



भक्तितरङ्गिणी

समर्पण

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि ईन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥

(यजु० २०।२४)

शब्दार्थ—हे परम तेजस्वी, व्रतों के पालक प्रभो ! मैं तुझमें अपने आपको समिधा के रूप में समर्पित करता हूँ व्रत और श्रद्धा को प्राप्त करता हूँ और इस प्रकार दीक्षित होकर मैं तुझे प्रदीप्त करता हूँ ।

परमतेज, व्रतपति प्रभु तुझमें समिधा-रूप स्वयं को रखता ।
व्रत श्रद्धा पाकर दीक्षित मैं प्रभुवर तुझे प्रदीपित करता ॥
मुझ सूखी समिधा को पाकर जब तुम दीप्त प्रकाशित होते ।
मैं भी तेजोमय बन जाता, लोक-लोक आलोकित होते ॥

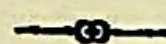


प्रेरणा

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषां इषिरास अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः॥
(ऋ० ९।७३।७)

शब्दार्थ—सहस्र धाराओं वाले, विस्तृत, पवित्र सोमस्रोत में क्रान्तदर्शी ज्ञानी कवि अपनी वाणी को चारों ओर से पवित्र करते हैं। इन कवियों की प्राणमयी काव्यधारा दूर-दूर तक पहुँचने वाली, सत्कर्म की प्रेरिका, दिव्य दृष्टि देनेवाली, मनुष्यों की पहिचान सिखाने वाली तथा प्रभु के दूत के समान होती है।

कवि, देखो, बह रहा सामने सोम-स्रोत अभिराम।
अरे सहस्रों धाराओं से पावन विस्तृत धाम॥
इसमें डूब-डूबकर कर लो वाणी आज पवित्र।
बहुत दिनों से मलिन पड़ी है रच-रच कुटिल चरित्र॥
प्राणमयी हो, दूर-दूर तक पहुँचे पुण्य प्रभाव।
द्रोह-रहित, अनुराग-भरित हो पूरित कर दे घाव॥
काम्य कर्म हो, दिव्य दृष्टि हो, पावन मानव-ज्ञान।
प्रभु की दूत बनी विचरे, दे मानवता को मान॥



कामनाओं का केन्द्र

क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्यादिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत ॥

(ऋ० १०।६४।२)

शब्दार्थ—वह कौन है जिसकी ओर हृदय में रखे हुए संकल्प जा रहे हैं, प्रेम से भरी हुई अभिलाषायें जिसकी कामना करती हैं और निर्देश-प्रेरणायें जिसकी गोद में चारों ओर से गिर रही हैं। निस्सन्देह वे दयामय देव ही हैं जिनके अतिरिक्त अन्य कोई सुख दे सकने वाला नहीं है। मेरी समस्त कामनायें इन्हीं देवों में नियमित-केन्द्रित हो गई हैं।

(संस्कारी छन्द)

हृदय में निहित सकल संकल्प अरे जाते हैं किसकी ओर ?
प्रेममय अभिलाषायें किसे चाहती हैं छू नभ के छोर ?
प्रेरणायें-मंगलनिर्देश चाहते हैं किसकी मृदु गोद ?
कहाँ है इनका जीवन-केन्द्र, कहाँ है इनका नित्य प्रमोद ?
वही हैं देव दयामय यहाँ, न उनसे भिन्न अन्य सुख स्रोत ।
उन्हीं में नियमित सब संकल्प, कामना मेरी ओत-प्रोत ॥



स्तुति

प्रभु के चरणों में

**उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।**

(ऋ० १।१।७)

शब्दार्थ—हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! हम प्रतिदिन, रात और दिन के समय भक्तिपूर्वक प्रणत होते हुए, तुम्हारे समीप आ रहे हैं।

(संस्कारी छन्द)

दिवस के प्रथम, रात्रि से पूर्व,
भक्ति से स्वार्थ-त्याग के साथ ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट
तुम्हारी चरण-शरण में नाथ ॥



अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत्॥

(ऋ० ८।७९।२)

शब्दार्थ—प्रभो! आप नंगे प्राणी को आच्छादित कर देते हैं, व्याकुल विश्व को ओषधि द्वारा सुखी कर देते हैं। आपकी कृपा से अंधा देखने लगता है और लँगड़ा चलने लगता है।

मेरे देव दयालु, तुम्हारी महिमा कैसे गाऊँ मैं?
अपनी स्वल्पशक्ति वाणी में कैसे शक्ति सजाऊँ मैं?
जो उपकार किये जीवों पर कैसे उन्हें गिनाऊँ मैं?
उस अपार करुणा-धारा को कैसे उर में लाऊँ मैं?
मेरे सोम! नग्न जन को तुम आच्छादित कर देते हो।
आतुर व्यथित रुग्ण प्राणी के कष्ट सकल हर लेते हो॥
अंधा भी तव कृपादृष्टि से सृष्टि देखने लगता है।
लँगड़ा-लूला भी तव बल पा यहाँ दौड़ता भगता है॥
यहाँ असंभव भी संभव है देव! तुम्हारी करुणा से।
यहाँ प्रेम की वर्षा प्रतिपल पूषा ऊषा अरुणा से॥



विद्मा हित्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुवि मात्रं अवोभिः ॥

(ऋ० ८।८१।१२)

शब्दार्थ—प्रभो ! हम जानते हैं कि आप रक्षण-शक्तियों से युक्त, अनन्त कर्मोंवाले, उदार दानी, अमित-ऐश्वर्यसम्पन्न और बहुत परिमाणवाले हैं।

रक्षात्मक शक्तियाँ लिये तुम जीवों का उपकार करो।
वन अनन्तकर्मा प्रभु अपने भक्तों के दुखजाल हरो॥
तुम अनन्त दानी अनन्त धन लिये सदा जन-कोष भरो।
है अनन्त परिमाण तुम्हारा, जनहित अमित दयालु हरो॥



महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

(ऋ० ८।१।५)

शब्दार्थ—हे अचलप्रतिष्ठ शक्तिशाली परमेश्वर! मैं तुझे बड़े से बड़े मूल्य में भी अपने से अलग न करूँ। हे अनन्त ऐश्वर्य वाले! मैं तुझे शत, सहस्र, लाख, करोड़ आदि के बदले में भी अपने से दूर न करूँ।

तू अनमोल, तू अनमोल ।

ओ अनन्त वैभव वाले, तू चिर अनजान, अगम्य, अतोल ।
विश्ववशी ! मैं तुझे न वेचूँ मिले विश्व चाहे शत बार ॥
या सहस्र फिर लक्ष कोटि हो धन की राशि असीम अपार ।
भले शुल्क कोई कितना दे, पर तेरे हैं बोल अबोल ॥



न ह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे ।
राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः ॥

(ऋ० ८।२४।१२)

शब्दार्थ—हे प्यारे नटनागर, हे वाणी से वंदनीय प्रभु! धन, बल और तेज की प्राप्ति के लिये मैं तुझसे भिन्न अन्य किसी को भी नहीं पाता।

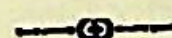
देख लिया, सब जान लिया।
मिला न दाता कोई जग में, सबने उसका दिया दिया ॥
कठपुतली की भाँति चराचर को है वही नचाने वाला।
सफल साधना के करने में वही सहायक देव निराला ॥
कवियों ने अपनी वाणी से जपी उसी की सद्गुण माला।
धन-बल-तेज उसी से मिलता, एक वही सब देने वाला ॥
उस प्यारे की शरण पड़ा हूँ जिसने प्यार अपार किया ॥



मा चिदन्यत विशंसत, सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते, मुहुरुक्थ्या च शंसत ॥

शव्दार्थ—मित्रो, प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रशंसा मत करो, क्योंकि इसमें अपनी हानि है। यज्ञ-स्थान पर सब मिलकर उसी शक्तिशाली प्रभु की स्तुति करो और वार-बार उसीकी प्रशंसा करो।

सखे ! गाओ, प्रभु के ही गान।
अन्य सभी की व्यर्थ प्रशंसा, जीवन-हानि महान ॥
वही एक इच्छित फलदाता वही एक वलवान।
चरण-शरण में चलो उसी की, माँगो उससे दान ॥
सब कुछ भूल, मस्त हो केवल, लाओ उसका ध्यान।
वार-वार गद्गद हो गाओ उसके चरित-वितान ॥



प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥

(ऋ० १०।५०।१; यजु० ३३।२३)

शब्दार्थ—उस महान, आनन्दमय, सुखदाता, सर्वव्यापक देव की अर्चना करो जिसका यश, बल और तेज महान है तथा जिसके यश और पुरुषार्थ की वन्दना द्युलोक से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त संसार कर रहा है।

गाओ, गाओ प्रभु के गीत ।
अङ्ग-अङ्ग से, रोम-रोम से पूजन करो पुनीत ॥
पृथिवी से द्युलोक तक संसृति वन्दन करे विनीत ।
जिसके पूज्य महान तेज, बल, यश, साहस से प्रीत ॥
वह महान है, मोदमान है, सुखप्रद अलख अतीत ।
विश्व-रमण, वैश्वानर व्यापक, अगम, अगाध, अजीत ॥

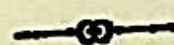


अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः ।
शुची रोचत आहुतः ॥

(ऋ० ८।४४।२१)

शब्दार्थ—सर्वज्ञ प्रभु सब से अधिक पवित्र व्रतवाला है; वह पवित्र ज्ञानी और पवित्र कवि है। आहुतियाँ पाकर वह पवित्र रूप में ही प्रकाशित होता है।

आत्मदेव से बढ़ कर पावन भाव न जग में कोई और।
इसको छूकर ही बनते हैं अन्य यहाँ पावन-शिरमौर ॥
जब तक आत्मदेव रमते हैं, तब तक पावन विमल शरीर।
निकल गए, फिर महामलिन है इसकी माटी, इसका नीर ॥
धन्य-धन्य है, इस आत्मा से निकल रहा जो पावन ज्ञान।
धन्य-धन्य है, इस आत्मा से निकल रहा जो कविता-गान ॥
यह ज्ञानी, यह कवि खिल उठता आहुति पाकर परम पवित्र।
इसकी दीप्ति-दीप्ति में चमकें पावनता के चारु चरित्र ॥
इस पवित्र छवि पर न्यौछावर भूतल की शोभा सौ बार।
दर्शनीय यह, वर्णनीय यह, चिन्तनीय छवि-राशि अपार ॥



त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम् ।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्रसिन्धून् ॥
(ऋ० ४।१९।६)

शब्दार्थ—हे प्रभु, तुम शत्रुओं का नाश करनेवाले भक्त के लिए इस विशाल पृथ्वी को सब कामना पूरी करनेवाली कामधेनु बना देते हो। उछलता हुआ तूफानी समुद्र तुम्हारी भक्ति से शान्त, और दुर्गम सिन्धु सुगमता से तरने योग्य बन जाता है।

तुमने कब क्या नहीं किया ?

जब-जब भीर पड़ी भक्तों पर तब-तब उन्हें उबार लिया।
रंग-अनंग-जयी निज जन के सफल मनोरथ करने वाले!
कामधेनु सम भक्त पुरुष हित विपुल विश्व को दुहने वाले॥
एक ओर से सुख बरसाते, कष्ट दूसरी ओर मिटाते।
देख तुम्हारा रुख, तूफानी-सागर भी प्रशान्त हो जाते॥
दुर्दमनीय विघ्न-बाधा के भीषण दल-बादल हट जाते।
विचलित क्षुब्ध सिन्धु को पल में सहसा तरने योग्य बनाते॥
बैठ तुम्हारी ही गोदी में छक भक्तों ने अमृत पिया॥

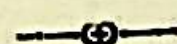


यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥

(ऋ० ८।७०।५)

शब्दार्थ—हे परमशक्तिशाली परमेश्वर! सौ द्युलोक, अनेक भूमियाँ, सहस्रों सूर्य, समस्त उत्पन्न पदार्थ और ये विशाल द्यावा-पृथिवी के बीच के प्रदेश, कोई भी तेरी अनन्तता को प्राप्त नहीं कर सकते।

ये शत-शत द्युलोक मिलकर क्या तेरी समता कर सकते?
तू अनन्त तू महामहिम, ये तेरी सीमा में रहते।
अरे एक क्या शत सूर्यों में तेरा-जैसा तेज नहीं।
ऐसी विस्तृत भूमि अनेकों पावें तेरा पार कहीं?
यह ब्रह्माण्ड विशाल रोदसी तेरी थाह न लगा सके।
तुझे नापने चले, बीच में स्वयं नपे-से रहे रुके।
तू अनन्त, तू अगम, अगोचर, तू अनन्त ज्ञानी दानी।
हम अति क्षुद्र बँधे सीमा में, तुझे न पा सकते मानी॥



अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभि रक्षते।
प्रास्राग् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति॥
(ऋ० ४।५३।४)

शब्दार्थ—सर्वप्रेरक देव भुवनों को देखता हुआ अदम्य होकर अपने नियमों की रक्षा कर रहा है। उसने संसार की प्रजा के लिए अपने रक्षक वाहु फैला रखे हैं। वह व्रतधारी बनकर इस विशाल जगत पर राज्य कर रहा है।

(गीतिका छन्द)

विश्व को करता प्रकाशित सर्वप्रेरक देवता।
दब नहीं सकता किसी से, शक्ति प्रथिता प्रस्तृता॥
वह नियम-व्रत-धर्म-रक्षक वर व्रती विश्वेश है।
निजप्रजा-पालन-परायण वाहु विपुला विस्तृता॥



यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०।१२१।४; यजु० २५।१२)

शब्दार्थ—जिसकी महिमा को ये हिमाच्छादित पर्वत तथा नदियों सहित समुद्र कह रहे हैं, जिसकी ये दिशायें भुजाओं के समान हैं, उस आनन्दरूप प्रभु की हम हवि द्वारा पूजा करें।

(समान सवैया)

ये हिम-धवल उच्चगिरि जिसकी अतुल अचल महिमा को गाते।
सरिताओं के साथ सरित्पति, जिसकी उज्ज्वल कीर्ति सुनाते॥
जिसकी बाहु समान बनी हैं रक्षक सुन्दर सकल दिशाएँ।
उस सुखरूप प्रजापति प्रभु के क्यों न आज हम गुण-गण गाएँ॥



वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

(साम० पू०—६।३।१३।२०)

शब्दार्थ—प्रभु की सृष्टि में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, उसके पीछे आने वाली शरद्, हेमन्त तथा शिशिर सभी ऋतुएँ अत्यन्त रमणीय हैं।

मेरे प्रभु की सृष्टि बनी है चारों ओर परम रमणीय।
षड् ऋतुओं की अनुपम आभा छायी कलित कान्त कमनीय॥
हरा भरा कुसुमित सुरभित यह वर वसन्त नव स्फूर्ति-निकेत।
ज्वलित ज्वालमाला से मण्डित ग्रीष्म शुभ्र तप-त्याग-समेत॥
सरस धार दे तप्त भूमि को आती वर्षा आशाधार।
निर्मल नभ में सुधा बहाता विमल शरद का शान्त प्रसार॥
आती है हेमन्त लिए हिमकर, शीतलता का संचार।
शिशिर स्वच्छ कर देती जग को गलित पलित दल झाड़-बुहार॥



यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्वा शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै॥

(ऋ० ४।२।१)

शब्दार्थ—जो मरणशील भूतों में अमृत, इन्द्रियों में अनासक्त देव सत्यस्वरूप होकर प्रतिष्ठित है, वह सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, होता-रूप आत्मा अपनी महिमा से पवित्र एवं प्रदीप्त आहुतियों और बलिदानों की प्रेरणा कर रहा है।

आकर यहाँ विराजे मेरे आत्मदेव माटी के घर में।
वे अविनाशी, मरणशील यह, वे सत्, यहाँ असत् स्वर-स्वर में;
वे देवों में देव, असंगी, निहित इन्द्रियों के दर्शन में॥
सर्वश्रेष्ठ यजनीय बने वे होता, यज्ञ-शरीर-सदन में।
अपनी महिमा से मानव को त्याग-याग का पाठ पढ़ाने,
शुचि प्रदीप्ति को प्रेरित करते आए पुण्य प्रकाश बढ़ाने॥



वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः ।
स्याम ते सुमतावपि ।

(ऋ० ६।३।४०।२४)

शब्दार्थ—प्रभो, आप वसु हैं, सबको निवास देनेवाले हैं। आप वसुओं के स्वामी और रक्षक हैं। आप आनन्द और कल्याण के निकेतन हैं। आप सर्वज्ञ और चेतन हैं। आप विविध प्रकार से प्रकाशित पदार्थों में रमण कर रहे हैं और उनकी सत्ता के हेतु हैं। हम सर्वदा आपकी कल्याणी मति के अनुसार ही कार्य करें।

(राधिका)

हे विश्व-निवास-निकेतन, चेतन पति हे !
हे विश्व-रमण, कल्याण-सदन, शुभगति हे !
हे ज्ञान-प्रकाश-निधान, महान सुमति हे !
मम मति तव सुमति-सुरत हो शोभन-रति हे !



न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥

(ऋ० ८।६१।११)

शब्दार्थ—हम न पापी होकर, न कृपण और कोरे काठ बन कर प्रभु की उपासना करते हैं; प्रत्युत हम सुकृती, उदार तथा ज्ञान-प्रकाश से प्रज्वलित होकर प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं। इसीलिए हमने यज्ञकर्मों के साथ उस सुखवर्षक प्रभु को अपना सखा बना लिया है।

तेरा आराधन करने में जो निष्पाप, ज्वलन्त, उदार।
यज्ञकर्म में तन्मय होकर पाते तेरा सख्य अपार ॥
तू अभीष्ट फलदाता सन्तत, तू सुखवर्षक कान्त कृपालु।
चमक रहा है तेरा वैभव, तू दानी, तू दिव्य दयालु ॥



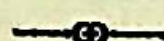
पुराम्भिदुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥

(ऋ० १।११।४)

शब्दार्थ—प्रभो ! आप कवि हैं, सर्वज्ञ और क्रान्तदर्शी हैं, अमित ओजवाले हैं, एक होते हुए भी अनेक का भेदन करनेवाले हैं, आप समस्त कर्मों के धारक, दृढ और अनेक के द्वारा स्तुति किये जानेवाले हैं ।

(हरिगीतिका)

वह क्रान्तदर्शी, नित्यज्ञानी, अमित ओजस्वी बली ।
उस एक की गाते अनेकों कवि द्विजेन्द्र गुणावली ॥
वह विश्वकर्मों का विधाता इन्द्र वज्री सिद्ध है ।
वह एक किन्तु अनेकभेदी नित्यशक्ति-समृद्ध है ॥



त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(ऋ० ७।५९।१२)

शब्दार्थ—सुन्दर गन्धवाले, पुष्टिवर्धक, सर्वज्ञ त्र्यम्बक देव का हम यजन करते हैं। जैसे लता-बन्धन से उर्वारुक फल चू पड़ता है, इसी प्रकार हम भी मृत्यु से मुक्त हो जावें और अमृतमय प्रभु में निवास करें।

(हरिगीतिका)

जो है त्रिकालज्ञा त्रिलोकी में, त्रिलोचनि अम्बिका।
सुखदा, सुभग सौरभमयी, अमिताभ पुष्टि-विवर्धिका॥
वह मृत्यु-भय से मुक्त कर दे, माँ अमृतमय गोद दे।
ज्यों कर्कटी-फल वृन्त से हो मुक्त परम प्रमोद दे॥



मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥

(ऋ० ८।९६।४)

शब्दार्थ—प्रभो, आप पूजनीयों में पूज्य तथा अच्युत को भी च्युत कर देनेवाले हैं। आप बलवानों में शिरोमणि तथा भक्त जन पर सुख की वर्षा करनेवाले हैं।

(समान सवैया)

पूज्य पूजनीयों में तुम हो, अच्युत को भी च्युत कर देते।
बलवानों में बहुत बली हो, निज झंडा ऊँचा कर लेते॥
एक तुम्हीं जीवों के हितकर सकल सुफल-दल देनेवाले,—
कौन तुम्हारे सदृश यहाँ है? तुमने सतत दुरित दुख टाले॥



त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥

(ऋ० ६।१३।१)

शब्दार्थ—हे सुन्दरता के स्रोत ! तुमसे निकल कर सौन्दर्य तथा सौभाग्य की धाराएँ वैसे ही फैलती हैं जैसे वृक्ष की शाखाएँ। तुम्हारे भक्त को धन, सामरिक शक्ति, दैवी वृष्टि, स्तुत्य ज्योति शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

(गीत)

अयि सुन्दर, सुन्दरता-स्रोत !
तुम से निकल-निकल फैले हैं जग में वैभव-गरिमा-गोत ।
जैसे तरु से फूट-फूट कर चारों ओर गईं शाखाएँ ॥
सब में एक मूल रस व्यापक, गुप्त फूल-फल-अभिलाषाएँ ॥
जिसने सेवन किया मिला धन, दिव्य वृष्टि की सृष्टि निराली ।
शक्ति सामरिक, ज्योति प्रशंसित गति को भी गति देने वाली ॥
एक तुम्हारा आश्रय बनता भवसागर में पावन पोत ॥



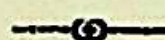
वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

(ऋ० १।७।६।१)

शब्दार्थ—वह प्रभु समस्त लोकों का राजा एवं विश्व की शोभा और श्री है। वह विश्व का नियामक है। समग्र विश्व उसी से उत्पन्न होकर विविध प्रकार की चेष्टायें कर रहा है। सूर्य के द्वारा वही प्रभु संसार को जीवन दे रहा है। उसी प्रभु की कल्याणकारी बुद्धि के अनुसार हम आचरण करें।

(त्रिभंगी)

जग का राजा, जग का स्वामी जो त्रिभुवनपति कहलाता है।
जो शोभा-निधि, शोभाकारक, मंगलमय सब सुखदाता है॥
जो विश्व-नियामक, नर-नायक, रवि-शशि जिससे निज ज्योति भरें।
उस वैश्वानर परमेश्वर की मति में हम नित्य निवास करें॥



गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः ।
सुमित्रः सोम नो भव ।

(ऋ० १।६१।२१।१२)

शब्दार्थ—प्रभो। आप प्राणवर्धक हैं, रोगों को दूर करनेवाले, धन के दाता और पोषक हैं। आप ही सोम अर्थात् विश्व की जीवनी शक्ति हैं। आप हमारे लिये सुन्दर मित्र बन जाइये।

(महाहरिगीतिका)

तुम प्राणपोषक, प्राणवर्धक, धन-प्रजा-जन-राज्य-त्राता ।
तुम अंग-इन्द्रिय-मन-विकारों के विनाशक, ज्ञानदाता ॥
वसुवित् तुम्हीं, सर्वज्ञ स्वामी, आत्मबल-विस्तारकारी ।
परिपोषवर्धन-सोमप्रिय शुभ मित्र हो मंगल-विहारी ॥



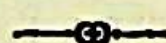
त्वामग्ने मनीषिणस्त्वाम् हिन्वन्ति चित्तिभिः ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

(ऋ० ८।४४।१९)

शब्दार्थ—हे सर्वज्ञ प्रभु, मननशील जन तुम्हें अपनी मननशक्ति द्वारा और अन्य साधक तुम्हें अपनी चित्तशुद्धि द्वारा बढ़ाते हैं। हमारी वाणियाँ भी आपको बढ़ावें ।

(संस्कारी)

मनीषी मन के मालिक तुम्हें बढ़ाते मनन शक्ति के साथ ।
अन्य चितशुद्धि लिये निष्काम कर्म से गाते तव गुण-गाथ ॥
इन्हीं की आहुतियों से देव ! सदा बनते संतृप्त प्रदीप्त ।
बढ़ावें तुम्हें त्यागकर दर्प हमारे मंत्रपाठ स्तुति-गीत ॥



त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा ।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ।

(ऋ० १।६।१९।५)

शब्दार्थ—प्राणप्रद शक्ति के स्वामी ! आप सत्पति, सच्चे रक्षक तथा सज्जनों के पालक हैं । आप राजा हैं । आप ही पाप और विघ्नों को नष्ट करनेवाले हैं । आप कल्याणकारी एवं सृष्टि के कर्ता हैं ।

(समान सवैया)

मेरे सोम तुम्हीं सत्पति हो,
तुम राजा, तुम पाप-प्रहारी ।
तुम कर्ता, तुम शान्ति-प्रदाता,
तुम कल्याण-केन्द्र सुखकारी ॥
तुमसे बढ़कर स्वामी मेरा
तुमसे बढ़कर पालक प्यारा,
कौन यहां है तुम्हीं बता दो
मेरा मंगल तुमसे न्यारा ?



स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०।८)

शब्दार्थ— वह ईश्वर शुद्ध, शरीररहित, व्रण और स्नायु से हीन, पाप से असंपृक्त, क्रान्तदर्शी, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू है। वही चारों ओर फैला हुआ है और अपनी सनातन प्रजा को यथावत् वेद-ज्ञान तथा कर्मफल प्रदान करता है।

(गीत)

वह तेजयुक्त, वह दीप्तिमान !
वह देहरहित, वह स्नायुरहित, वह व्रणविहीन शोभानिधान।
वह पापरहित, वह शुद्ध सतत, वह विश्वव्याप्त वह आप्तकाम ॥
वह कवि सब के मन का स्वामी, सब से है उसका उच्च धाम।
वह देव स्वयम्भू देता है, शाश्वती प्रजाहित फल समस्त ॥
कर रहा विभाजन ठीक-ठीक वह आदि काल से न्यायन्यस्त।



मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांसि उत्तिर॥

(ऋ० १।११।७)

शब्दार्थ—हे समस्त ऐश्वर्य के स्वामी, आप शोषक, मायावी पुरुष को अपनी असंख्य मायामय शक्तियों से नीचे गिरा देते हैं। उसके हिंसक साथी यदि आगे बढ़कर आपकी शक्ति का उल्लङ्घन करना चाहते हैं तो उनके यश और बल को भी आप चीर डालते हैं।

(वीर छन्द)

प्रभु की अमित असंख्य शक्तियाँ,
मायावी का कर संहार।
पाप-जाल फैलानेवाले,
शोषक जन का हृदय विदार॥
उसके हिंसक साथी बढ़ते,
उनको भी कर पकड़ पछार।
कण-कण में परिव्याप्त हो रहीं,
माया से माया को मार॥



प्रार्थना

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

(अथ० १।३४।२)

शब्दार्थ—मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मिठास हो और जिह्वा की जड़ में मिठास का मूल स्रोत हो। मेरे प्रत्येक कर्म, बुद्धि, विचार और चित्त तक मधु पहुँचा हुआ हो।

(वीर छन्द)

जिह्वा के आगे मिठास हो,
जिह्वा की जड़ में मधुस्रोत।
मेरे कर्म, विचार, बुद्धि में,
चित में मधु हो ओत-प्रोत॥

—o—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

(ऋ० १।११।२)

शब्दार्थ—हे ऐश्वर्य के स्वामी, वलों के अधिपति प्रभो! आपकी मित्रता में हम वलवान वनें और किसी से भी न डरें। आप सर्वदा अपराजित और विजयशील हैं। आप ही को हम वार-वार प्रणाम करते हैं।

(संस्कारी)

निखिल वल अधिपति, वैभव-धाम;
मिले तव स्नेह-सख्य सुख-स्रोत।
वना दे हम को जो धनवान,
अंग हों वल से ओत-प्रोत ॥
प्रवल से प्रवल शत्रु हो खड़ा—
न हों हम किन्तु कभी भयभीत।
प्रणत हों तव पद में सविशेष,
सदा से जो जयशील, अजीत ॥



तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

(यजु० १९।९)

शब्दार्थ—प्रभु, तू तेज है, मेरे अन्दर तेज स्थापित कर। तू वीर्य है, मुझे वीर्यवान बना। तू बल है, मेरे अन्दर बल की स्थापना कर! तू ओज है, मुझे ओजस्वी बना। तू पवित्र क्रोध है, मेरे अन्दर भी इसे स्थापित कर। तू सहनशक्ति है, मेरे अन्दर भी सहनशक्ति धारण कर।

(रुचिरा छन्द)

प्रभु, तुम तेजरूप, गतिशाली, तीव्र तेज मुझमें भर दो।
वीर्यवान तुम शक्तिस्रोत हो, वीर्यवान मुझको कर दो॥
प्रभु तुम बल हो, बल दो मुझको, दूर दीनता का स्वर हो।
तुम ओजस्वी ओज मुझे दो, काया कान्ति-दीप्ति-धर हो॥
प्रभु तुम पावन मन्युरूप हो, क्रोध मुझे दो नयकारी।
सहनशक्ति की तुम सीमा हो, सहनशक्ति दो भयहारी॥



आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् । आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो अति व्याधी महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवा अस्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु । फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो नः कल्पताम् । (यजु० २२।२२)

शब्दार्थ—हे परमेश्वर, हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेज से सम्पन्न, वेद के विद्वान् ब्राह्मण हों; क्षत्रिय शूर-वीर, धनुर्धर, व्याधिरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले और महारथी हों; दूध देने वाली गायें, बोझ उठाने में समर्थ बैल और वेगवान घोड़े हों; परिवार का पालन करने वाली स्त्रियाँ और विजयशील, रथ पर विराजमान, सभा के योग्य शक्तिशाली वीर हों; हमारे राष्ट्र में उचित समय पर वर्षा होती रहे; ओषधि तथा अन्न फलवाले होकर पकें और सर्वदा योग-क्षेम बना रहे।

(चौपाई)

सफल करहु प्रभु ! विनय हमारी । हों द्विज ब्रह्मतेज-व्रतधारी ॥
क्षत्रिय महारथी रणधीरा । व्याधि-विनाशक कर खर तीरा ॥
धेनु दुधार वृषभ बलकारी । चपल तुरंगम द्रुतगतिधारी ॥
ललनायें गृहिणी गुणवाली । सभ्य युवा विजयी बलशाली ॥
जब-जब तृषित जीव दुख पावें । तब-तब जलधर जल बरसावें ॥
ओषधि पकें सुखद फल लावें । योग-क्षेम नित हम सब पावें ॥



हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
(ईशोप० १५, यजु० ४०।१७)

शब्दार्थ—हे पोषक प्रभो ! सुवर्णमय, चकाचौंध करने वाले पात्र से सत्य का मुख आच्छादित हो गया है। उसे तुम हटा दो जिससे हम सत्य धर्म का दर्शन कर सकें।

(दोहा)

इस सुवर्णमय पात्र की चमक-दमक से नाथ !
आच्छादित है सत्य-मुख, घोर विवशता साथ ॥
हे पोषक प्रभु ! तुम उसे शीघ्र हटा दो दूर ।
जिससे सात्त्विक धर्म का हो दर्शन भरपूर ॥



यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे ॥

(ऋ० १०।२१।४)

शब्दार्थ—हे शक्ति के स्रोत, हे अमर प्रभो ! आप महामहिमामय हैं। जिस धन को आप मेरे योग्य समझते हों उसे ही बलप्राप्ति के लिए प्रदान करें। यज्ञकर्मों में प्रसन्नता के लिए आप वही विचित्र धन प्रदान करें।

(चौपाई)

जो मोहि जोग विभव भव माहीं । अमर देव ! हौं जानत नाहीं ॥
शक्तिसिन्धु तुम परम सुजाना । विदित तुमहिं मन की गति नाना ॥
लावहु सोइ जो करहि बललाहू । मनमहँ भरहि उमंग-उछाहू ॥
पाइ विमल धन सोइ सुरराऊ । करहुँ प्रसन्न तुमहिं सतभाऊ ॥
महामहिम तुम पूज्य महेशा । गावत गुन नित शारद शेषा ॥



स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥

(ऋ० ८।१६।११)

शब्दार्थ—वे पूर्ण करने वाले, अनेक बार अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये परमेश्वर अपनी चरण-शरण की नाव द्वारा हमें कुशलता-पूर्वक समस्त द्वेषों से पार कर दें।

वे पूरक पूरण करतार ।
चरण-शरण नौका से कर दें कुशलसहित मुझ को भी पार ॥
क्या जाने कितने विपन्न जन उनको कब-कब चुके पुकार ।
बार-बार उनकी छांया में पाया भक्तों ने उद्धार ॥
आज आ गई बारी मेरी खड़ा हुआ हूँ उनके द्वार ।
द्वेष-दमन कर, शत्रु-शमन कर, पार लगा दें मुझे उबार ॥



स नः शक्रश्चिदाशकद्दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥

(ऋ० ८।३८।१८)

शब्दार्थ—वे परमदानी, अन्तस्तल को ज्ञान से भर देने वाले शक्तिशाली प्रभु हमें भी सामर्थ्य प्रदान करें और अपनी समस्त रक्षण-शक्तियों के साथ हमें प्राप्त हों।

मिले हमें प्रभु का वरदान।
वे अनन्त बलशाली कर दें मुझको भी कुछ शक्ति प्रदान॥
वे औढरदानी प्रसिद्ध हैं उनका फैला दान महान।
वे भर देते अन्तस्तल के अन्तर को दे मंगल ज्ञान॥
उनकी रक्षाशक्ति मिले, नित करे दोष-त्रुटियों से त्राण।
पालन करे तृप्ति से भर दे, हो मेरा वाञ्छित कल्याण॥



तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥

(ऋ० ६।४७।१३; १०।१३१।७, यजु० २०।५८)

शब्दार्थ—हम उस परमपूज्य प्रभु की सुमति तथा प्रसन्नता प्राप्त करें। वह सुन्दर रक्षक अपनी सामर्थ्य द्वारा द्वेषों को हमारे अन्दर से दूर कर दे।

(वीर छन्द)

वह उत्तम रक्षक जगदीश्वर
सतत स्वकीय शक्ति सम्पन्न।
द्वेष भाव को दूर हटा दे,
हो कर हम पर परम प्रसन्न॥
उस यजनीय देव की मंगल
सुमति हमें हो प्राप्त महान।
उसकी कल्याणी प्रसन्नता
करे हमें कल्याण प्रदान॥

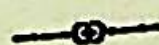


सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥

शब्दार्थ—हम मन द्वारा मिल कर ज्ञान प्राप्त करें। दैवी मन से कभी वियुक्त न हों। बहुल विपत्तिरूप वज्र के टूटने पर भी हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें और सुदिन आने पर प्रभु का वज्र हमारे ऊपर न गिरे।

(गीत)

खोल दो देव, दया का द्वार !
दीन-हीन दुख-दलित गलित हम डूब रहे मँझधार ।
मिलकर मन से तत्त्व विचारें सोचें समझें सार;
दैवी मन से दूर न होवें, तजें पाप-परिवार ।
अन्धकार के आने पर भी मचे न हाहाकार;
टूटें वज्र, प्रलय घन उमड़ें, विपति करे बरु वार ।
लिए साधना अविचल, विचरें, हो तेरा आधार;
सुख का समय न व्यर्थ बितावें करें पुण्य से प्यार ॥
आ जावे अनुकूल अवस्था, हो न भोग का भार;
चरण-शरण में रहें तुम्हारी, पड़े न खर-शर-मार ।



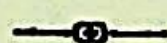
पुनरेहि वाचस्पते दैवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

(अ० १।१।२)

शब्दार्थ—हे परम गुरुदेव, अपनी दिव्य मानस शक्ति के साथ फिर यहाँ आइये। हे वसुपते, हमें भी ज्ञानरूप वसु में रमण कराइये। मेरा सुना हुआ, पढ़ा हुआ मेरे अन्दर ही रहे।

(संस्कारी)

पुनः आओ वाचस्पति देव,
दिव्य द्योतित मानस के साथ।
वसुपते ! रमण कराओ यहाँ,
रहे मेरा श्रुत मेरे हाथ॥
पठन के साथ करे मन मनन
बने वह मेरा अच्युत अंग।
ज्योति में परिणत हो सब अन्न
न हो मेरा विवेक-व्रत भंग॥



यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६।२)

शब्दार्थ—हे विशाल संसार के स्वामी, मेरे चक्षु, हृदय तथा मन में जो कमी हो उसे पूरा कर दो। हे भुवनों के पालक, तुम मेरे लिये कल्याणकारी बनो।

(समान सवैया)

प्रभु, जो दोष बाह्य करणों में आँख आदि में भरे हुए हों,
अथवा अन्तःकरण हृदय-मन मध्य घाव अति हरे हुए हों ॥
बृहत जगतपति उनको कर दो दूर, दोष दुःख छिद्र हटाओ।
ज्ञानपते, भुवनेश्वर, देकर शान्ति, हमारे कष्ट मिटाओ ॥



तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

(ऋ० ५।३।२७।२५)

शब्दार्थ—हे परम पालक प्रभो! यह वायु, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति आदि संसार के सभी पदार्थ हमारे लिये सुखदायक हों। प्राणादि पवन की सुखदायिनी गोद में हम निवास करें। इस प्रकार आप अपनी कल्याणमयी शक्तियों से सर्वदा हमारा पालन करते रहें।

(त्रिभंगी)

यह सूर्य-चन्द्र, यह वायु-अग्नि, यह जल-ओषधि, वन की विभूति।
सुखरूप सभी अनुकूल बने, मेरे हित संसृति की प्रसूति॥
प्राणादि पवन के अङ्क मध्य हम शान्ति, सौख्य, वैभव पावें।
परमेश आप पालक प्रतिपल, परिताप-दाप द्रुत हट जावें॥



जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

(ऋ० १।७।७।१)

शब्दार्थ—हे जातवेदस् प्रभु ! आप ज्ञान, धन आदि के उत्पादक एवं समग्र उत्पन्न सृष्टि के ज्ञाता हैं। आप दान न देने वाले कृपण व्यक्ति के धन को नष्ट कर देते हैं। हे ज्ञानस्वरूप प्रभु ! हम सौम्यतादि गुणों को धारण करें और जैसे नाव द्वारा समुद्र को पार किया जाता है वैसे ही आप हमें समस्त पापों और दुर्गम बाधाओं से पार कर दें।

(त्रिभंगी)

तुम जातवेद, तुम वेदरूप, तुम वित्तवान, तुम ज्ञानवान ।
निःशेष दग्ध कर देते हो खल, कृपण, अदानी का निधान ॥
सेवा में सौम्य पदार्थ लिये हम खड़े, इन्हें स्वीकार करो ।
सागर में नौका के समान दुर्गम दुरितों से पार करो ॥



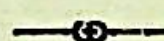
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप नः शोशुचदघम् ।

(ऋ० १।७।५।६)

शब्दार्थ—प्रभो ! आप विश्व भर में व्याप्त हैं। आप ही समग्र संसार को उपदेश कर रहे हैं। हे परम शुद्ध देव ! आप हमारे सभी पापों को दूर करके हमें पवित्रता प्रदान करें।

(त्रिभंगी)

तुम विश्व-व्याप्त, तुम विश्व-रूप, अन्तर बाहर सब ओर तुम्हीं ।
उपदेश कर रहे जन-जन को जीवन-वन के बन मोर तुम्हीं ॥
हे परम पूत, हे परम शुद्ध, शुचिता का नित संचार करो ।
अघ-ओघ सभी हों नष्ट-भ्रष्ट, दुख-दैन्य-दुरित-दल क्षार करो ॥



परागुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवावृधः सखीनाम्॥

(ऋ० ५।३।२१।२५)

शब्दार्थ—हे मघवन्, धन और शक्ति के पुञ्ज, हे सुवेद, चेतन एवं ज्ञानी प्रभो ! आप परम उदार हैं। अपने धन में से कुछ धन हमें भी दे दो और अमित्रों तथा अनिष्टों को नष्ट कर दो। आप ही हमारे रक्षक हैं—हमें ज्ञान दें और इस जीवन-समर में हम सखाओं के वर्धक एवं रक्षक बनें।

(समान सवैया)

तुम मघवन् वैभवशाली हो, तुम सुवेद शोभन धन वाले।
शक्तिपुञ्ज, चेतनतम ज्ञानी, दानी परम उदार निराले॥
आज हमें भी कुछ धन दे दो, हों अनिष्ट सब नष्ट हमारे।
इष्ट वृद्धि हो जीवन-रण में, आश्रित हम सब नाथ तुम्हारे॥

—:o:—

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छञ्च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु ॥
(ऋ० १।८।५।२)

शब्दार्थ—हे रुद्र, आप रोग-भयादि को दूर करने वाले हैं। आप कृपा करें और हमें सुख दें। आप त्यागशील साधक के बन्धु और सहायक हैं। हम विनम्र होकर आपकी शरण में आये हैं। हे पिता, आप हमें कुशल-क्षेम प्रदान करें और विघ्नों को दूर करें। हम आपके बताये हुए पवित्र मार्गों पर ही चलें।

मया करो, प्रभु कृपा करो !
रुद्र रोग-भय दूर भगा दो, मन में मङ्गल-मोद भरो ॥
परहित पीड़ा पाने वाले, त्यागशील जन के तुम भ्राता।
तुम्हें प्रणाम हमारा प्रतिपल, हे जन-प्रतिपालक, हे त्राता ॥
पिता तुम्हारे पुण्यपथों में मंजुल मार्ग मिले सुखदाई।
विग्रह भगे, अनुग्रह आवे, तव चरणों में रति मनभाई ॥
मेरे रोम-रोम में प्यारे ! प्रेम सहित प्रतिपल विचरो।



त्वावते हीन्द्रक्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥

(ऋ० ७।२५।४)

शब्दार्थ—हे परमेश्वर, हे शक्तियुक्त, उग्र और हरणशील प्रभु! मेरा जीवन तुम्हारे कर्म ही के लिए है, तुम्हारे जैसे रक्षक की शरण में, दान में ही मैं रहता हूँ। अतः आप सदैव के लिए मेरे अन्दर अपना घर बना लीजिए और मुझे जन्म मरण के चक्र से बचाइये।

(गीत)

बिक चुका प्रभो! तुम्हारे हाथ!
बना लो चाहो जैसा नाथ!
तुम्हारे ही कर्मों के लिए, समर्पित मेरी शक्ति समस्त।
शूर तुम जैसे रक्षक मिलें, रहे फिर कोई कैसे त्रस्त!
तुम्हारी श्रेय गेय गुण-गाथ!
उग्र ओजस्वी ले निज सैन्य, सदा को कर लो मुझ में ओक।
बचा लो मुझ को, मरने दो न, पाप की प्रबल शक्तियाँ रोक॥
हरा हो हरे! हमारा पाथ।



यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥
(ऋ० ७।८९।५; अथ० ६।५१।३)

शब्दार्थ—हे वरणीय देव ! हम मानव आप जैसे देवों के साथ जो कुछ द्रोह किया करते हैं, अनजान में तुम्हारे नियमों का लोप किया करते हैं; उस पाप के कारण, हे देव, क्षमा करो और हमें विनाश से बचाओ ।

(गीत)

क्षमा हो, देव, दिव्य-गुण-धाम ।
हम मानव, करते रहते हैं भ्रमवश पाप तमाम;
हम अज्ञानी तव धर्मों का जब कर देते लोप;
तव जीवन पथ में पाते हैं भीषण दैवी कोप ।
द्रोही हृदय प्रकम्पित होता, समझ भयङ्कर भूल;
श्री चरणों में प्रणत स्वजन हित रहो पिता अनुकूल ।



प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च,
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।

(अथ० १८।१।२७)

शब्दार्थ—प्रजापति के ज्ञानरूपी कवच से आवृत तथा उसके तेज से आच्छादित मैं वृद्धावस्था तक कर्म करने का सामर्थ्य रखता हुआ, सहस्र वर्ष की आयु वाला बनकर उत्तम कर्म करता हुआ जीवित रहूँ।

(गीत)

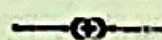
मुझे सिद्धों की सुगति मिले ।
रहूँ सहस्र वर्ष तक जीवित, एक न बाल हिले ।
ढक लूँ मैं अपने आत्मा को, प्रभु का प्रज्ञाकवच मिले;
कश्यप-पश्यक रवि प्रकाश से मेधा मन की कली खिले ।
प्राण प्रकाशित रहें तेज से, दीर्घ आयु तक शक्ति रहे;
सञ्चित सकल सफल बल मेरा विमला मन की गैल गहे ।
सुकृत पवित्र कर्मरत जीवन दिव्य गुणों का धाम बने;
विकसित आत्म-सुमन-सौरभ से संसृति का सर्वस्व सने ।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजेन दिव उत्सा उदन्यवे॥
(ऋ० ४।३।२१)

शब्दार्थ—हे प्राण! तुम ऐश्वर्यसंपन्न हो, प्रीतियुक्त हो और हितकर तथा रमणीय गतिवाले हो। तुम मेरे पास आओ। मेरी मति आज तुम्हारी कामना कर रही है। जैसे प्यासे जातक को आकाशीय वर्षा तृप्त करती है वैसे ही तुम मुझे तृप्त करो।

(गीत)

आओ प्राण! आओ प्राण!
रोम-रोम में रम जाओ प्रिय! कर मेरा कल्याण।
तुम आत्मिक ऐश्वर्य लिए हो राजरोग से दूर॥
हितकर गति रमणीय साथ ले, सेवा-व्रत में चूर।
प्यासे चातक सी मम मति-गति तुम्हें चाहती आज॥
दिव्य घटाओं के सम बरसो, सरसो प्रिय सुख-साज।



मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

(अथ० १।३४।३)

शब्दार्थ—मेरा निकट जाना मधुमय हो। मेरा दूर हटना मधुमय हो। मैं वाणी से मीठा बोलूँ और सर्वत्र मधु को देखनेवाला बन जाऊँ।

(अर्ध महातैथिक)

मेरा निकट गमन मधुमय हो,
मेरा मधुमय दूर गमन।
वाणी से मैं मधुमय बोलूँ,
बन जाऊँ माधुर्य-सदन ॥

—o—

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहिस्पृधः ।
त्वमस्माकम् तव स्मसि ॥

(ऋ० ९।९२।३२)

शब्दार्थ—प्रभो ! तू हमारा है और हम सब तेरे हैं। तेरे ही साथ युक्त होकर हम अपने स्पर्धाशील प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करें।

(महातैथिक)

तेरे साथ जुड़ें हम अपने रिपुदल का प्रतिकार करें ।
'हम तेरे, तू नाथ हमारा' यही भाव लेकर विचरें ॥
कभी न तुझ से पृथक् रहें हम तेरा अंचल पकड़ चलें ।
तेरे आश्रय से जीवन में बाधाओं का व्यूह दलें ॥

—o—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोक अक्षिते, इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥

(ऋ० ९।११३। ७)

शब्दार्थ—जिस लोक में अविनश्वर ज्योति है, अखण्ड आनन्द है, हे पवित्रतम प्रभो ! तुम मुझे उसी अमर अक्षय लोक में पहुँचा दो। हे इन्द्र ! मेरे लिये द्रवित हो।

(हरिगीतिका)

जिस लोक में है सुख निहित, है ज्योति अविनश्वर जहाँ।
हो त्वरित पावन सोम, पहुँचा दो हमें भी तो वहाँ॥
उस अमृत अक्षय लोक में गति हो अमल मल-नाशिनी।
आनन्द-कन्द-निवासिनी, परमोच्च-पुण्य-प्रकाशिनी॥

—o—

ते चेदग्ने स्वाध्यो अहा विश्वा नृचक्षसः।
तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥

(ऋ० ८।४३।३०)

शब्दार्थ—हे प्रभो! हम सर्वदा तेरे ही लिये उत्तम कर्म करनेवाले बनें और मानव-स्वभाव के ज्ञाता बनकर दुर्गम मार्गों को पार करें।

(रुचिरा छन्द)

जो कुछ करें सुकर्म जगत में, प्रभु, तेरे ही लिये करें।
सब दिन, आठों पहर, रातदिन, केवल तेरा ध्यान धरें॥
हों असक्त, प्रत्येक वस्तु का शुद्ध रूप सम्मुख आवे।
देखें, पहिचानें जन-जन को, भेद जगत् के खुल जावें॥
उत्तम कृति हो, शुद्ध दृष्टि हो, शिर पर वरद हस्त तेरा।
फिर क्या कठिन प्रसंग यहाँ पर, पार लगे बेड़ा मेरा॥



त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतोय ईं भवन्त्याजयः।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते॥

(ऋ० ७।३२।१७)

शब्दार्थ—हे पुरुहूत! अनेकों से अनेकों बार पुकारे गये प्रभु! समस्त पृथ्वीलोक रक्षा की कामना करता हुआ आपके प्रसिद्ध नाम की भीख माँग रहा है। यहाँ जो संग्राम होते हैं उनमें विश्व भर को धन तथा विजय देनेवाले केवल आप ही प्रसिद्ध हैं।

(गीत)

भीख मिले अभिराम नाम की,
मिटे कालिमा कुटिल काम की॥
पीड़ित पृथिवी शरण पड़ी है, निज रक्षा हित द्वार खड़ी है।
धर्म कर्म क्रम विषम व्यस्त सब यम-नियमों की गति बिगड़ी है॥
एक तुम्हीं गति क्षीण-क्षाम की।
भीख मिले अभिराम नाम की॥
तुम जग के ऐश्वर्य प्रदाता, हो प्रसिद्ध मंगलमय त्राता।
देवासुर-संग्राम मध्य तुम, सुरहितकारी, विजय-विधाता॥
गति दो हमको स्वस्ति साम की।
भीख मिले अभिराम नाम की॥

——०——

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्रशत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥
(ऋ० १।७।१४।४)

शब्दार्थ—हे जयशील इन्द्र ! हम तुम्हारे साथ विजय प्राप्त करें। प्रत्येक जीवनक्षेत्र में शत्रुओं से, विघ्नों से घिरे हुए अंश का आप उद्धार कीजिये। हे प्रभो, आप हमारे लिये बल एवं वैभव को सुगम कीजिये और शत्रुओं के बल का संहार कीजिए।

(गीत)

तू जय-विजय-प्रदाता !

तेरे साथ विजय हम पावें मंगल-मूल-विधाता !!
रिपुदल से आवृत वारित हों जो-जो अंश हमारे।
उन्हें उबारो, बाहर लाओ, समर-समर में प्यारे॥
तुम मघवा, तुम इन्द्र धनेश्वर, तुम खल-बल-संहारी।
हमें सुगम हो अन्तर बाहर बल-वैभव सुखकारी॥
रिपुदल क्षय हो, अभय स्वबल हो विजयी तव मद-माता॥

अवयत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे।
राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥
(ऋ० ८।७९।९)

शब्दार्थ—हे राजन्, हे सिंचक, जब अपने सधस्थ—सहस्थान में या सामने देवों की दुर्मतियों को देखो तो उनके मूल कारण द्वेषों को तथा हिंसा वृत्तियों को दूर कर दो।

(समान सवैया)

मेरे राजा सोम, हृदय से द्वेष भावना दूर भगा दो;
रहे न हिंसा वृत्ति, अमृत सिंचन कर ऐसे रंग रँगा दो।
बन जातीं विपरीत इन्हीं के कारण दिव्य वृत्तियाँ मेरी;
हो जाता है हृदय कुमति का केन्द्र, कलुष की बजती भेरी।
हृदय, जहाँ तुम शोभित होते मेरे साथ परमपद-शोभी,—
फिर कैसे टिक सकें वहाँ पर दुर्मतियाँ दुखदायिनि लोभी।
दूर भगा दो, दूर भगा दो—द्वेष लेशभर भी न रहे प्रभु!
हृदय सधस्थ रहे नित निर्मल धवल धर्म की धार बहे प्रभु!

—o—

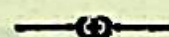
उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

(ऋ० १०।१३७।१; अ० ४।१३।१)

शब्दार्थ—देव नीचे गिरे हुए व्यक्ति को ऊपर उठा देते हैं और पाप करने वाले व्यक्ति को जीवित, निष्पाप कर देते हैं।

(अर्ध समानसवैया)

नीचे गिरा हुआ हूँ प्रभुवर !
हाथ प्रकड़ कर मुझे उठा लो।
पापी हूँ मैं पतित पुरातन,
जीवन देकर देव सँभालो॥



देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥

(अथ० ७।१०९।७)

शब्दार्थ—नाथ, संतप्त होकर आज जो मैं देवों को पुकार रहा हूँ, ब्रह्मचर्य का जो मैंने पालन किया है, सब को खींचने वाली तथा विचित्र गति वाली इन्द्रियों को जो मैंने वश में किया है, वे संकट की इस वेला में मुझे सुख प्रदान करें।

(गीत)

नाथ ! विकट संकट की वेला !
रिपुदल चारों ओर खड़ा है देख मुझे असहाय अकेला।
देवों का आह्वान करूँ मैं, पर वे भी मुख मोड़ चले क्यों ?
ब्रह्मचर्य व्रत, तप संयम सब मुझ विपन्न को छोड़ चले क्यों ?
इन्द्रिय-दमन, शमन मन-तन का मैंने खेल व्यर्थ ही खेला ॥
नाथ विकट संकट की वेला।

मेरी इस दयनीय दशा पर दयादृष्टि करुणा कर डालो;
मेरी बिगड़ी बात बना कर कष्टकूप से नाथ निकालो।
पलटें पुण्यकर्म फिर मेरे, लगे विजय-श्रीसुख का मेला ॥
नाथ विकट संकट की वेला।

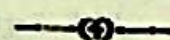
कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ॥

(अथ० १०।७।३७)

शब्दार्थ—यह वायु क्यों नहीं ठहर जाता, यह मन क्यों नहीं रम जाता और सत्य को प्राप्त करने की इच्छा करती हुई ये प्रजायें कभी भी क्यों नहीं ठहर जातीं ।

(समानसवैया)

नहीं ठहरता अरे वायु क्यों ! क्यों न कहीं मन रम जाता;
यह जल—यह प्रवाह क्यों बहता, क्यों न कहीं पर थम जाता ?
अरे, निरन्तर गति संसृति में, इनको कहाँ किधर जाना ?
अन्त कहाँ होगा चलने का, कभी किसी ने पहिचाना ?
हाँ, हाँ, यहाँ रहेंगे ये क्यों ! जहाँ असत्य, विनाश रहे;
इन्हें सत्य पाने की इच्छा जहाँ अमरता स्रोत बहे ।



क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैवस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥

(ऋ० २।३३।७)

शब्दार्थ—रोगनाशक प्रभु ! तुम्हारा सुखदायक हाथ कहाँ है जो मेरे संतापों को दूर करने में ओषधि के समान तथा आनन्दकारी है और जो देव-सम्बन्धी पापों को दूर करनेवाला है। हे बलशाली, मुझे क्षमा करो।

(गीत)

मेरे रुद्र रोग-दुख-नाशक, सुखवर्धक कर कृपा बताओ,—
कहाँ तुम्हारा वरद हस्त वह, जिससे सौख्य शान्ति सरसाओ।
संतापों में औषधि-सम जो जनहित-साधक शक्ति विशाला,
देवों के प्रति पाप किए जो उनको दूर भागनेवाला ॥
आज उसी कर की छाया में, क्षमा करो, मम वास बनाओ ॥

—o—

मूषो न शिश्नाव्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत्सुनो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव॥

(ऋ० १०।३३।३)

शब्दार्थ—हे अनन्त-ज्ञान-कर्मशील ईश्वर, तेरा स्तोता होते हुए भी मुझको मानसिक वेदनाएँ विविध प्रकार से खा रही हैं, जैसे चूहा आटे से लिपटे सूत को खाता है। हे ऐश्वर्यशाली प्रभु, तू एक बार मुझे भली भाँति सुखी बना दे और पिता की भाँति हमारा रक्षक बन जा।

(अवतारी छन्द)

मूषक ज्यों अन्नयुक्त सूत को है काटता।
त्यों ही काटती हैं, ये कचोटती हैं आधियाँ॥
मोह-मद, राग-द्वेष, काम-क्रोध कूदते।
उछल-उछल दुःख-वारिधि में बोरते॥
विविध व्यथाएँ, नाना रोग-भय, चिन्ताएँ।
व्याकुल बनाती हैं, जलाती बन ज्वालाएँ॥
घेर लिया मुझको है देव चारों ओर से।
बचने का मार्ग मुझे सूझता न और से॥
तेरे अतिरिक्त और कौन है जो आयगा।
मुझे इस आपदा से आकर छुड़ायगा॥
तू ही मेरा पालक पिता है, सुत भक्त मैं।
सर्व शक्ति-वैभव से युक्त तू अयुक्त मैं॥
एक बार आ जा देव एक बार गोद में—
मुझको बिठा ले भर जाऊँ मैं प्रमोद में॥

तुझसे पिता को पा के फिर मुझे पाना क्या।
आधियों से व्याधियों से फिर छूट जाना क्या॥
अपना अयन जब अपने में व्यापना।
फिर कैसी लाज यह फिर कैसा काँपना॥
एक तेरे पाने से निहाल बन जाऊँगा।
एक तेरी शक्ति से सशक्त कहलाऊँगा॥
कर दे मुझे तू सुखी, देव! वरदान दे।
मानसिक यातना से शीघ्र मुझे त्राण दे॥



का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया अधा म इन्द्र श्रणवो हवेमा॥
(ऋ० ७।२९।३)

शब्दार्थ—हे परमेश्वर, मेरी इन पुकारों को सुनो। मैं जानता हूँ कि मेरी स्तुतियों से तुम्हारी शोभा नहीं होती, तो फिर कब मैं अपने आपको ही तुम्हें दे डालूँगा। मैं तुम्हारे लिए ही अपनी मति-गति का विस्तार कर रहा हूँ।

(गीत)

देव, मैं कब से रहा पुकार!
पिता, आज तो सुन लो सुत की दर्द भरी चीत्कार।
तव दर्शन हित सहे न जाने कितने कारागार।
कब आत्मार्पण की अभिलाषा होगी प्रभु स्वीकार।
मेरी मति-गति, मनप्रवृत्ति अति आकुल ले निज भार।
केवल तुझे याद करती है, छोड़ प्रपञ्च–प्रसार।
सुन्दर वचन, कथन क्या तेरा कर सकते श्रृङ्गार।
आज सभी कुछ देने अपना बैठा तेरे द्वार।



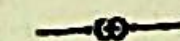
इन्द्र प्रणोरथंअव, पश्चाच्चित्सन्त मद्रिवः। पुरस्तात् एनं मे कृधि॥
हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि। उपमं वाजयुः श्रवः॥
अवानो वाजयुं रथं, सुकरं ते किमित् परि। अस्मत् सुजिग्युषः कृधि॥

शब्दार्थ— हे अचलप्रतिष्ठ शक्तिशाली इन्द्र! पीछे पड़े हुए मेरे रथ की रक्षा करो और उसे आगे कर दो। हे ऐश्वर्य-सम्पन्न, आप बैठे क्यों हैं? मेरे जीवनरथ को सर्वप्रथम कर दो। बल की इच्छा करता हुआ ऐश्वर्य तो आपके पास ही है। बल चाहते हुए मेरे इस रथ की रक्षा करो। आपके लिये सब कुछ सुकर है। मुझे विजयी बना दो।

(गीत)

मेरे रथ को नाथ! बचाओ!

देखो कितना पिछड़ गया है, बल दे, इसको आगे लाओ॥
जो मुझसे भी पीछे आये, आगे निकल गये बढ़ करके।
योग-याग, तप-त्याग साथ ले, उर में भक्ति-भावना भरके॥
फिर क्यों बैठे हो, प्रभु आओ, बल-वैभव सब पास तुम्हारे।
मेरा रथ आगे आ जाये, सबसे पहले पंख पसारे॥
सभी सुकर सब भांति आपको, मुझको विजयी वीर बना दो।
ज्ञानशक्ति भर जीवनरथ में पुनः विजय के गान सुना दो॥



योनः शश्वत् पुराविथ अमृध्रो वाजसातये ।
स त्वं न इन्द्र मृडय ॥

(ऋ० ८।८०।२)

शब्दार्थ—प्रभो ! आप पहले से ही सर्वदा हमारी रक्षा करते आये हैं। हे अविनश्वर ! बल की प्राप्ति के लिये हमने सर्वदा आपको ही पुकारा है। हे इन्द्र ! हमें सुखी करो।

(गीत)

प्रभु ! पहले से ही हमें बचाते आये ।
निर्बल के सन्तत क्लेश मिटाते आये ॥
जब कठिन समय आ पड़ा पुकारा तुमको ।
तुम तभी हमें बल-लाभ कराते आये ॥
तुम सब के ऊपर अविनश्वर गति वाले ।
हमको अविनाशी शक्ति बनाते आये ॥
फिर क्यों हमको यह रहे निराशा घेरे ।
तुम वही, हमें कर सुखी अङ्क निज लाये ॥



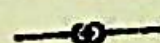
महेनो अद्य बोधय, उषोराये दिवित्मती। यथाचिन्नो अबोधयः।
सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥

(ऋ० ५।७९।१)

शब्दार्थ—हे प्रकाशवती उषा! महान ऐश्वर्य के लिये आज हमें जगादो! हे सुजाते! व्यापक सत्यशील उषा! जिस प्रकार तू हमें पहले जगाती रही है, उसी प्रकार कामना करने के योग्य विस्तृत सत्य ज्ञान में विचरण करने के लिये हमें आज भी जगा दो।

(गीत)

ऊषा रानी आज जगा दे।
तू सन्तों को सदा जगाती, मेरी भी दुख-नींद भगादे।
उस महान धन-आत्मज्ञान-हित आज जागरण कर दे मेरा॥
दिव्य प्रकाशवती ओ देवी, दूर भगा अविवेक अंधेरा।
अरी सुजाते! तू प्रकाश के साथ जन्म लेती आई है॥
तेरी व्यापक, सत्यस्वरूपा वाणी मधु मंगल लाई है।
सत्य तेज से व्याप्त कर दे मेरे सद्ज्ञानी जीवन को॥
बन जावे आलोक लोक यह ज्योतिर्मय कर ज्ञानगगन को।



उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किम्मेहव्यम हृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥

(ऋ० ७।८६।२)

शब्दार्थ—मैं स्वयं सोचता हूँ कि मैं अब प्रभु के अन्दर कब निवास कर सकूँगा! कब प्रभु प्रसन्न होकर मेरी हवि को स्वीकार करेंगे! कब मैं प्रसन्न होकर उस दयालु देव के दर्शन कर सकूँगा!

(गीत)

वह मंगल दिन कब आवेगा?
जब प्रभु के दर्शन पाऊँगा, क्लेश-मूल मन से भागेगा।
कब प्रसन्नमन मेरी हवि को वरुणदेव स्वीकार करेंगे॥
परमानंद पूर्ण सुखकारी मानस में सुख-शान्ति भरेंगे।
अपने आप आप से पूंछूँ, कोटि वितर्क विचार करूँ मैं॥
कब प्रभु में धर ध्यान रमूंगा, यों भवसागर पार करूं मैं।



अति तृष्टं ववक्षिथ अथैव सुमना असि ।
प्रप्र अन्ये यन्ति पर्यन्ये आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥

(ऋ० ३।९।३)

शब्दार्थ—प्रभो, तुम प्यासे की प्यास बुझाने वाले हो। इसी में तुम्हारी प्रसन्नता है। तुम जिनके सखा बन जाते हो उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो कर्म मार्ग में लग जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो तुम्हें घेर कर बैठ जाते हैं, उपासना-मार्ग में लीन हो जाते हैं।

(गीत)

मिलेगी कब मुझको प्रभु-प्रीति ?
कब प्रसन्न कर पाऊँ हरि को, मेरी करें प्रतीति।
हटूँ न कभी, घेर कर बैठूँ—ऐसी हो दृढ़ नीति ॥
ध्यान लगा रम जाऊँ उनमें, भागे भव की भीति।
वे प्यासे की प्यास बुझाते—यही विरुद, यह रीति ॥
इसमें ही प्रसन्नता उनकी, यही रही गुण-गीति।



उत त्वं मघवन् शृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत् ।
यत् वीळयासि वीळु तत् ॥

(ऋ० ८।४५।६)

शब्दार्थ—हे शक्ति-सम्पन्न प्रभु ! याचक (साधनाशील हो कर) जो कुछ तुझसे माँगता है, उसे तू दे देता है। जिसे तू अभेद्य और बलवान बना देता है, वह वैसा ही बन जाता है ! प्रभो, आज मैं भी प्रार्थना कर रहा हूँ । मेरी भी इस छोटी-सी प्रार्थना को सुन लो।

(गीत)

सुन मेरी भी मेरे तात ।
बातें बड़ी बड़ों की साधीं, मेरी छोटी बात ।
अंधे याचक को आँखें दीं, मूक किये वाचाल ॥
पंगु किये गतिवान जगत में, धनिक बने पामाल ।
बना दिया जिसको दृढ़ तुमने, वह दृढ़ अडिग अभेद्य ॥
वह अदम्य, वह निर्भय जग में, वह अजेय अच्छेद्य ।
जिस-जिस याचक ने जो माँगा, तुमने दिया तुरंत ॥
आज नहीं होगा क्या मेरी, याचकता का अंत ।
देखो यह मन दौड़ रहा है, इधर उधर मतिहीन ॥
आज इसे दृढ़ बना रमा लो, कर अपने में लीन ।



यच्चिद्धि शश्वता मसि इन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥

(ऋ० ८।६५।७)

शब्दार्थ—प्रभो ! यद्यपि आप सब कालों और सब देशों में सब मनुष्यों के लिये साधारण हो, समान हो, फिर भी हम तुमको पुकार रहे हैं।

(समान सवैया)

सबके लिए समान बने तुम, सबकी आशा पूरी करते।
तुम सतयुग में, तुम त्रेता में, तुम द्वापर, कलियुग में रमते ॥
भूत भविष्यत वर्तमान में सदा एक रस रूप विचरते।
सब प्रकार सब ही के हित में निरत दुरित-दल सन्तत हरते ॥
सबके लिये, सभी देशों में, सब कालों में प्राप्त प्रभो तुम।
साधारण से भी साधारण, जन-जन-उर-उर-व्याप्त प्रभो तुम ॥
फिर भी तुम्हें पुकार रहा हूँ, अरे निकट से निकट निवासी।
अन्तर-तम को चीर, ज्ञान की भर दो उज्ज्वल ज्योति सुधा-सी ॥



स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणोवीहि मृडीकं सुहवो न एधि॥
(ऋ० ४।१।५, यजु० २१।५)

शब्दार्थ—हे सर्वज्ञ ईश्वर! आप हमारी रक्षा के लिये नीचे आ जाओ। इस प्रभात वेला में मेरे अत्यन्त निकट बैठ जाओ। रममाण होते हुए आप मेरे बन्धनों को काट दीजिए। नाथ, मैं कब से आपको बुला रहा हूँ। मेरी पुकार को सुनो और सुगमता से बुलाने योग्य हो जाओ।

(समान सवैया)

तुम्हें बुलाते तुम्हें बुलाते, मेरी वाणी मन्द हुई है।
जा न सका स्वर मेरा, अपना श्रवण-शक्ति तव बन्द हुई है॥
मेरे देव! दूर तुम बैठे, कहीं निकट मेरे आ जाते।
उषा काल में ऊपर से चल, नीचे उतर दया दिखलाते॥
तो तुम मुझे देख कर होते द्रवित, दया का हाथ बढ़ाते।
जगज्जाल में जटित, जरा से जीर्ण शीर्ण जन को अपनाते॥
पर, तुम परम, अवम कब होकर, मेरी करुण पुकार सुनोगे?
करुण–पाश कर नाश सुगमता साथ बुलाने योग्य बनोगे?



इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्यतद्वचः ।

(ऋ० १।५७।४)

शब्दार्थ—हे प्रभूत ऐश्वर्य वाले और अनेक भक्तों से स्तुति किये गये इन्द्र ! हम तेरा ही अवलम्बन लेकर चलते हैं। प्रभो, हम तेरे ही हैं। हे विविध वाणियों के केन्द्र, हमारी प्रार्थनाओं को तेरे अतिरिक्त और कोई नहीं सुनता। हे नाथ, पृथ्वी के आकर्षण की भाँति तू हमें और हमारी विनय को अपनी ओर खींच ले, स्वीकार कर ले।

(गीत)

मेरे एक तुम्हीं भव-भूति !
भक्त अनेक निरत तव स्तुति में ले निज पुण्य-प्रसूति ।
केवल तुम अवलम्बन मेरे, मुझ से तुम्हें अनेक ॥
तुम्हें छोड़ फिर किसे पुकारूं, मेरे तुम्हीं विवेक ।
विविध वाणियों से करते हैं, मुनिजन अर्चन-ध्यान ॥
वह सब प्राप्त तुम्हें होता है मेरे देव महान ।
तो फिर मेरी विनत विनय भी कर लो प्रभु स्वीकार ॥
अपनी ओर खींच लो मुझ को दे आकर्षण-प्यार ।



ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम् मा दुवः॥

(ऋ० ७।४।६)

शब्दार्थ—हे सर्वज्ञ परमेश्वर! आप अनन्त अमरत्व को प्राप्त तथा सर्व समर्थ हैं, सुन्दर वीरता और ऐश्वर्य के स्वामी हैं। हे सर्व-शक्तिसम्पन्न! हम अवीर, कुरूप, कायर तथा अकर्मण्य होकर आप की उपासना न करें।

(समान सवैया)

हम कुरूप, कामी, कायर क्या करें प्रभो तेरा आराधन।
हमें कहाँ अवकाश नाश से? कैसे करें अमृत-पथ-साधन?
मुख तो तम की ओर कहाँ फिर वह प्रकाश की रेखा पावन?
डूब रहे दुख-दैन्य-सिन्धु में, कहाँ शान्ति-सुख-छत्र सुहावन?
कैसी गति विपरीत अरे यह, कैसा उलटा मार्ग हमारा?
अपने घर का वैभव छोड़ा, परधन का ले लिया सहारा?
पर-जित पराधीन बनने में कलुष कष्ट की काली कारा।
फँस जाता है हिरन जाल में, देख बधिक का मोहक चारा॥
पिता! फँसे हम प्रकृति पाश में जहाँ विनाश, विलाप, विकलता।
अपने घर में विभव, वीरता, अमल अमरता, सदा सफलता॥
अब तो याद उसी की आती, मिले वही घर, वही मधुरता।
मिले तुम्हारी गोद, मिले फिर मुझ को मेरी वही अमरता॥



साधन

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृताशये स यश्चकार जजार सः॥

(अथर्व० १०।८।२६)

शब्दार्थ—यह कल्याणरूपा, अजर, अमर, आत्मा देवता मरणशील मानव के गृह रूप शरीर में धारण की गई है। जिसके लिए यह धारण की गई है वह सोता है और जिसने धारण किया है वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है।

(गीत)

उठ जाग जीव टुक देख यहाँ; माँ तुझे जगाने आई है;
अजरा-अमरा माँ कल्याणी पय तुझे पिलाने आई है।
यह मर्त्य अनित्य विनश्वर घर, जर्जर-भर्भर गिरने वाला;
चल निकल यहाँ से, माँ तुझको अमरत्व दिलाने आई है॥
उठ, लाल! पड़ा क्यों सोता है? जननी की सूनी गोद भरे;
यह सुधासिन्धु हिल्लोल उठे, तू चिदानन्द बन मोद करे।
यह बैठी तेरे लिए यहाँ, क्या जाने कब से जाग रही;
यह निर्विकार पर प्रेममूर्ति जनहित निज आसन त्याग रही॥
यह स्नेह राशि, चैतन्य चारु, वरणीय विभा ले आई है।
माता की ममता ने अपनी बाँकी झाँकी दिखलाई है॥



सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद् दृंह ॥

(यजु० १७।७२)

शब्दार्थ—तू सुन्दर पंखों से उड़ने वाला, उन्नति करने वाला और गौरवशाली आत्मा वाला है। तू पृथ्वी की पीठ पर बैठ, और अपनी ज्योति से अन्तरिक्ष को भर दे। अपने प्रकाश से तू द्युलोक को ऊपर उठा दे और अपने तेज से दिशाओं को उन्नत कर।

(गीत)

तू सुपर्ण, तू उड़ने वाला, तू शुभ-लक्षण-धनी रहा।
तू महान, तू गौरवशाली, तेरे यश का स्रोत बहा॥
अरे? बैठ तू भूमि-पृष्ठ पर तू भूतल का स्वामी है।
अन्तरिक्ष को भर प्रकाश से रवि भी तव अनुगामी है॥
अरे? और उठ, आत्म-ज्योति से ले द्युलोक को उठा अभी।
आत्म-तेज से उन्नत कर दे, चमका दे ये दिशा सभी॥



असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् , प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

(अथर्व० ४।१९।६)

शब्दार्थ—असत् (पाप) भूमि से उत्पन्न होता है, और वह बड़े रूप में फैल कर द्युलोक तक पहुँच जाता है। वहाँ से वह निश्चित रूप से कर्त्ता को संतप्त करता हुआ लौट कर उसी पर आ पड़ता है।

(महातैथिक)

असत् भूमि से उठ कर घेरे अन्तरिक्ष सा क्षेत्र महान ।
और भले ही बढ़ कर ढक ले स्वर्गलोक आलोक-वितान ॥
सह न सकेगा किन्तु बोझ वह अपना ही, गिर जायेगा ।
संतापित कर स्वयं जनक को लौट उसी पर आएगा ॥



शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥

(अथर्व० ३।२४।५)

शब्दार्थ—सौ हाथों वाले बन कर इकट्ठा करो पर सहस्र हाथों वाले बन कर दान करो। इस प्रकार किए हुए और भविष्य में किए जाने वाले कार्यों की परिणतिरूप वृद्धि को प्राप्त करो।

(गीत)

सौ हाथों से करो इकट्ठा तुम धन-वैभव-मान;
पर हजार हाथों से कर दो प्यारे, उसका दान।
जोती, बोई और कमाई करे फसल की वृद्धि ॥
एक-एक दाने से सौ-सौ दानों की हो सिद्धि।
कर ले प्राप्त फसल तू अपनी, बढ़ती हुई समृद्धि ॥
खूब फूल-फल इस जगती में भर जीवन में ऋद्धि।



संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋ० १०।१९१।२)

शब्दार्थ—साथ साथ चलो। मिलकर संवाद करो। तुम्हारे मन एक विचारवाले हों, जैसे पहले देव एक ज्ञानवाले होकर अपने भाग का सेवन, कर्तव्य का पालन करते रहे हैं।

(संस्कारी)

चलें सब साथ, एक स्वर लिये,
एक से मन के विमल विचार।
पूर्व के जैसे ज्ञानी देव
प्रेम से करते थे सहकार॥



६ भ० त०

समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः ॥

(अथ० ३।३०।६)

शब्दार्थ—तुम्हारी जलशाला एक हो, अन्न का विभाजन साथ-साथ हो, एक ही जुए में मैं तुमको साथ-साथ जोड़ता हूँ। जैसे पहिये के अरे नाभि में चारों ओर से जुड़े होते हैं, वैसे ही तुम सब मिलकर ज्ञानस्वरूप प्रभु की पूजा करो।

(संस्कारी)

हमारी जलशाला हो एक,
सम्मिलित अपना अन्न-विभाग ।
जुड़े हों एक जुए में सभी,
एक उद्देश्य, एक हो राग ॥
मिले रहते हैं जैसे अरे
चक्र की नाभिमध्य एकत्र ।
प्रेम से मिलकर उसी प्रकार
करें हम प्रभु-पूजा सर्वत्र ॥



अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुतमानुषेभिः ।
यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम् ॥

(ऋ० १०।१२५।५)

शब्दार्थ—मैं स्वयं यह कहता हूँ, देव और मानव सभी इसका सेवन एवं अनुभव कर चुके हैं। मैं जिसको चाहता हूँ उसको तेजस्वी ब्राह्मण, ऋषि तथा सुन्दर मेधावी बना देता हूँ।

(महागीतिका)

मैं स्वयं कहता यही हूँ, देव सेवन कर चुके हैं।
मुनि मनन-रत नर अनेकों साक्ष्य इसका भर चुके हैं ॥
मैं जिसे चाहूँ उसे निज तेज से उद्दीप्त कर दूँ।
ब्रह्मवर, ऋषिवर बना दूँ, मंजु मेधा-शक्ति भर दूँ ॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

(ऋ० ८।४५।२)

शब्दार्थ—अजर अमर ईश्वर जिनका सखा बन जाता है, उनका यज्ञ बहुत बड़ा होता है, उनका स्तुति-पाठ बहुत होता है और उनका यज्ञस्तम्भ बहुत बड़ा होता है।

(दिक्पाल छन्द)

जो सर्वदा युवा है, है नित्य शक्तिशाली ।
वह इन्द्र बन गया है, जिनका विकास-माली ॥
प्रभु को सखा बना कर निर्द्वन्द्व वे विचरते ।
महती प्रदीप्त ज्वाला-ज्ञानाग्नि में चमकते ॥
वे बार-बार प्रभु के स्तुति-गीत नित्य गाते ।
निज यज्ञ-यूप को यों जग में बड़ा बनाते ॥
झंडा यहाँ उन्हीं का जाज्वल्यमान सविता ।
गाते सभी उन्हीं की चिरवन्द्य कीर्त्ति-कविता ॥



अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥

(ऋ० ८।४५।३, सा० ३५।२।२१।३)

शब्दार्थ—वह अजर-अमर परमेश्वर जिनका सखा है; वे शूर-वीर शस्त्ररहित होकर भी योद्धाओं से घिरे हुए शत्रु को अपनी आत्मिक शक्तियों से पराजित कर देते हैं।

(राधिका छन्द)

वह अजर अमर है इन्द्र सहारा जिनका।
बन गया सखा स्नेही प्रभु प्यारा जिनका॥
वे सात्त्विक बल से भरे अजेय कहाते।
हो शस्त्ररहित भी शूरवीर बन जाते॥
सैनिक बल से भरपूर शत्रुबल भारी।
हो जाता उनसे ध्वस्त शक्ति खो सारी॥
पशुबल पर पाकर विजय आत्मरतिकारी।
वे धन्य-धन्य जगती-तल में नर-नारी॥

—o—

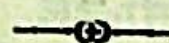
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० ४०।१)

शब्दार्थ—जगती में, चल सृष्टि में, जो कुछ जगत् है, चलायमान है, वह परमेश्वर से परिव्याप्त है; अतः त्याग भाव से भोग कर। लालच मत कर। भला, यह धन किसका है?

(हरिगीतिका)

परमेश से परिव्याप्त है जो कुछ सचल चलसृष्टि में।
उसके दिये उपभोग जो रस योग आते दृष्टि में॥
अतएव मानव, भोग तू सब भोग योग-विराग सें।
मत लोभ कर, किसका यहाँ धन? जन धनी तप त्याग से॥



कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजु० ४०।२)

शब्दार्थ—संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा कर। इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता अर्थात् अनासक्त होकर काम करना चाहिये। उसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

(त्रैलोक)

सत्कर्म ही करते हुए संसार में
शत वर्ष जीने की सुभग अभिलाप से ।
मत डालिये निज को कुपथ की धार में
इस भाँति होगे मुक्त जग के पाश से ॥
सत्कर्म भी आसक्ति से विरहित रहे
निर्लिप्त हो नर कर्म-जाल-प्रभाव से ।
यह एक मात्र सुमार्ग ऋषियों ने कहा
जो चल पड़ा परितृप्त वह मधु-स्राव से ॥



असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(यजु० ४०।३)

शब्दार्थ—जो आत्मघात करनेवाले पुरुष हैं, वे यहाँ से शरीर छोड़कर उन लोकों में जाते हैं जो प्रगाढ अंधकार से भरे हुए हैं और असुरों के योग्य हैं।

(वीर छन्द)

आत्महननकारी जीवों को
मरकर मिलते हैं वे लोक।
जो असुरों के योग्य, तमावृत
व्याप्त जहाँ दारुण दुख-शोक ॥



यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

(यजु० ४०।६)

शब्दार्थ—जो आत्मा में समस्त प्राणियों को और समस्त प्राणियों में आत्मा को अनुभव करता है, वह संशय में नहीं पड़ता ।

(वीर छन्द)

जो सब भूतों को आत्मा में
सब भूतों में आत्म-प्रकाश—
देखा करता है, वह साधक
काट चुका है संशय-पाश ॥



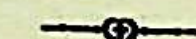
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

(यजु० ४०।७)

शब्दार्थ—जिस अवस्था में एकता का दर्शन करनेवाले ज्ञानी पुरुष को सब प्राणियों में आत्मतत्त्व ही प्रतीत होने लगता है, उस अवस्था में उसे मोह और शोक नहीं रहता ।

(समान सवैया)

ज्ञानी साधक एक तत्त्व का
जब सब में दर्शन कर लेता ।
जब विभिन्नता में समता का
गुरु स्वर उसे सुनाई देता ॥
सब भूतों में आत्म तत्त्व की
जब प्रतीति उसको होती है ।
मोह शोक की ज्वाला बुझकर
तब अपनी सत्ता खोती है ॥



अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬ रताः ॥

(यजु० ४०।९)

शब्दार्थ—जो केवल असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु जो सम्भूति के पीछे लगे हुए हैं वे उससे भी बढ़कर घने अन्धकार को प्राप्त करते हैं।

(रोला छन्द)

असम्भूति-सम्भूति त्याग-वैभव कहलाते ।
अपनाते जो त्याग मात्र घनतम वे पाते ॥
पर जो वैभव-निरत भोग के साधक बनते ।
वे उससे भी अधिक अँधेरे में जा गिरते ॥



अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

(यजु० ४०।१०)

शब्दार्थ—सम्भूति और असम्भूति दोनों के फल भिन्न भिन्न हैं—ऐसा हमने उन तत्त्वदर्शियों से सुना है जिन्होंने हमें इसका रहस्य बतलाया है।

(रोला)

मर्म त्याग का अन्य, भिन्न है भेद विभव का ।
पृथक् रूप से पंगु, समन्वय ही शुभ इनका ॥
धीरों से यह सुना, यही कवियों ने गाया ।
इनका गुप्त रहस्य जिन्होंने हमें बताया ॥



सम्भूतिश्च विनाशश्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(यजु० ४०।११)

शब्दार्थ—सम्भूति और असम्भूति (विनाश) दोनों को जो साथ-साथ जानता है, वह विनाश से मृत्यु को तरकर सम्भूति से अमृत को प्राप्त करता है ।

(रोला)

असम्भूति–सम्भूति, नाश–निर्मिति अपनाकर ।
एक साथ ही त्याग–विभव का अनुभव पाकर ॥
दोनों का करके प्रयोग जीवन-तरु फलता ।
तर विनाश से मृत्यु अमृत वैभव से मिलता ॥



अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬं रताः ॥

(यजु० ४०।१२)

शब्दार्थ—जो ज्ञानविहीन कर्मकाण्डरूप अविद्या की उपासना करते हैं, वे घने अंधकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु जो केवल विद्या में लगे हुए हैं वे उससे भी बढ़कर अंधकार को प्राप्त करते हैं।

(रोला)

विद्या ज्ञान विवेक, अविद्या कर्म कहाती।
ज्ञानरहित हो क्रिया सघन तम में ले जाती॥
पर जो केवल ज्ञान-निरत बकवादी बनते।
वे उससे भी अधिक अँधेरे में जा गिरते॥



अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

(यजु० ४०।१३)

शब्दार्थ—अविद्या और विद्या दोनों के भिन्न-भिन्न फल हैं—ऐसा उन तत्त्वदर्शियों से सुना है जिन्होंने हमें यह रहस्य बतलाया है।

(रोला)

विद्या का फल अन्य, अन्य फल क्रिया करण का।
पृथक् रूप से पंगु, समन्वय ही शुभ इनका ॥
धीरों से यह सुना, यही कवियों ने गाया।
इनका गुप्त रहस्य जिन्होंने हमें बताया ॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

(यजु० ४०।१४)

शब्दार्थ—विद्या और अविद्या दोनों को जो एक साथ जानता है—ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनों में जो एक साथ निरत होता है—वह अविद्या, कर्मकाण्ड से मृत्यु को तरकर विद्या से, ज्ञानकाण्ड से, मोक्ष को प्राप्त होता है।

(रोला)

ज्ञानकाण्ड से कर्मकाण्ड का मेल मिलाकर ।
एक साथ ही उभय पक्ष का अनुभव पाकर ॥
दोनों का करके प्रयोग जीवन-तरु फलता ।
तीर कर्म से मृत्यु, अमृत विद्या से मिलता ॥



आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्।
मनो यज्ञेन कल्पताम्, आत्मा यज्ञेन कल्पताम्।
ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्, ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताम्।
स्वर्यज्ञेन कल्पताम्, पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम्।
यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च
साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवा अगन्म अमृता
अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।

(यजु० १८।२९)

शब्दार्थ—मेरी आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और आत्मा श्रेष्ठतम पुण्यकर्म के लिए समर्पित हों। मेरा वैदिक ज्ञान, प्रतिभा, सुख और मेरा जाना हुआ परोपकार के लिए समर्पित हो। मेरा यज्ञ यज्ञरूप प्रभु के लिए समर्पित हो। अथर्व, यजु, ऋक्, साम और बृहत् रथन्तर सब यज्ञ के लिए हैं। इन्हीं याज्ञिक कर्मों से देवताओं ने सुख प्राप्त किया, वे अमर हुए और प्रजापति की प्रजा बने। मैं भी इस कल्याणकर्म के लिए अपने को समर्पित करता हूँ।

(रोला छन्द)

यज्ञरूप हो आयु, प्राण की शक्ति हमारी।
चक्षु, श्रोत्र, मन हों पवित्र सेवा व्रतधारी॥
आत्मा, वैदिक ज्ञान, बुद्धि की ज्योति निराली।
त्याग भाव से भरित सौख्य, अनुभूति-प्रणाली॥

यज्ञ स्वयं हो यज्ञरूप प्रभु हेतु समर्पित।
ऋक्, यजु, साम, अथर्व, रथन्तर बृहत यज्ञहित॥
इसी यज्ञ से सुखी हुए सुरवर अजरामर।
बने प्रजापति-प्रजा, चलूँ मैं भी इस पथ पर॥



विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद् वृषा हरिः॥
(ऋ० ९।८६।४४; सा० उ० ७।३।२१)

शब्दार्थ—चेतन और पवित्र आत्मा की स्तुति करो। यह आत्मा विशाल धारा के समान देह-बंधनरूप तटों को या साँप के समान जीर्ण त्वचा को छोड़ देता है और घोड़े के समान यह बलवान् तथा गतिशील आत्मा खेलता हुआ एक योनि से दूसरी योनि में चला जाता है।

(गीत)

सोम रूप ज्ञानी आत्मा के प्रिय सन्तत गुण गान करो;
चेतनता–केतन–तापस की अमित शक्ति का मान करो।
ज्यों अपार जलधार तटों को त्याग चतुर्दिक् भर जाती॥
आत्म शक्ति त्यों कोषमुक्त हो बन्धन से बाहर आती।
जीर्ण त्वचा को छोड़ सर्प ज्यों नवल त्वचा को अपनाता॥
त्यों तज जीर्ण शरीर जीव भी अभिनव जीवन गति पाता।
जैसे सबल अश्व विचरण कर शीघ्र यहाँ से वहाँ चले;
वैसे ही हरि खेल खेलते अपनी लीला को बदले॥



सत्यमिद् वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम् ।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥

(ऋ० ८।६२।१२)

शब्दार्थ—प्रभु के दान सर्वदा कल्याणकारी हैं। हम उस प्रभु की सच्ची स्तुति करते हैं, झूठी नहीं। यज्ञ न करनेवाले को महान् विनाश और यज्ञ करनेवाले को विशाल ज्योति प्राप्त होती है।

(गीत)

सुभग हैं सदा इन्द्र के दान ।
मिथ्या नहीं, सत्य प्रभु के ही हमने गाये गान ।
भूरि प्रकाश मिले याज्ञिक को, ज्ञान-विवेक-प्रसार ॥
अयजनशील महावध पावे, मिले न प्रभु का प्यार ।
यज्ञ-विधान गान प्रभु के हैं, आत्मत्याग प्रभु-राग ॥
त्याग-याग से प्रभु मिलते हैं, मिट जाते दुख-दाग ।
जब मैं और मिलें प्रभु मेरे, पूर्ण प्राप्ति हो साथ ॥
तब तो करें प्रशंसा अरि भी, धन्य-धन्य हे नाथ ॥

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
(ऋ० ४।२५।२)

शब्दार्थ—कौन उस सौम्य प्रभु के आगे वाणी द्वारा प्रणत होता है, कौन उसके मनन करने की इच्छा करता है, कौन उसकी किरणों को धारण करता है, कौन उस इन्द्र की सङ्गति, मैत्री, भ्रातृभाव आदि पाने की कामना करता है और कौन उस क्रान्तदर्शी के प्रति प्रेम एवं भक्तिभाव रखता है ?

(गीत)

कौन यहाँ, जो प्रभु के आगे वाणी द्वारा झुक जावे ?
कौन यहाँ, जो चिन्तन द्वारा प्रभु का रूप समझ पावे ?
कौन यहाँ, जो अनासक्त हो प्रभु की गायों को पाले ?
ज्ञान-किरण धारण कर मन में बने इन्द्र इन्द्रियवाले ?
कौन यहाँ जो प्रभु का साथी, सखा, बन्धु, बनना चाहे ?
कौन यहाँ जो उस कवि के हित प्रीति भक्ति रखना चाहे ?
अरे यहाँ विरले हैं ऐसे जो प्रभु-पथ के पथिक बने ।
पार्थिवता से पृथक् ज्ञान-गुण-रस में रहते सदा सने ॥



सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥

(अथर्व० ७।६।३, ऋ० ८।६३।१०, यजु० २१।६)

शब्दार्थ—उत्तम रक्षा करनेवाली, विशाल, ज्ञानप्रकाश से युक्त, अनिष्ट से रहित, श्रेष्ठ सुखवाली, सुन्दर मार्ग से चलनेवाली, उत्तम पतवारवाली, कभी न चूनेवाली, अदितिरूपा दैवी नाव पर हम निष्पाप होकर कल्याण के लिए चढ़ें ।

(गीत)

आओ छोड़ विकृत जीवन को चलें प्रकृति की ओर सखे ।
दिति की दानवता को त्यागें, चलें अदिति की ओर सखे ॥
यह बनावटी, बहुविकारमय जीवन कितना दुखदायी,
भवसागर में हमें डुबोता इसने पशुता अपनायी;
इससे बचना है तो आओ पकड़ें दैवी नाव सखे ।
स्वाभाविक जीवन अपनावें छोड़ें कृत्रिम भाव सखे ॥
स्वाभाविकता की यह दैवी नौका हमें बचा लेगी;
अपने विस्तृत फैले अञ्चल में हमको आश्रय देगी;
इससे ज्ञान-प्रकाश बढ़ेगा, कभी न होगी हानि सखे ।
यहाँ पहुँच कर खुल जाएगी सुख की मंगल खानि सखे ॥
यह अखंड, परिपूर्ण, सुभग, पावन पथ पर चलने वाली,
सद्गुण के पतवार लिए है, कभी नहीं रिसने वाली ॥
हो जाओ निष्पाप, बना लो स्वाभाविक जीवन प्यारे ।
चाहो यदि कल्याण जगत में टूटें भवबन्धन सारे ॥

—o—

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥

(अथर्व० ४।१८।६)

शब्दार्थ—जो हिंसा करता है, वह कर नहीं सकता, उलटे अपने ही पैर की अँगुलियों को तोड़ लेता है। हमारे लिए तो वह कल्याण ही करता है, पर अपने को वह संतप्त करता है।

(महातैथिक)

जो हिंसा की इच्छा करता कभी नहीं कर सके उसे ।
अपने पैर और अंगुलि को तोड़ ताप में सदा बसे ॥
करता है कल्याण हमारा, बोता अपने हित विषबीज ।
पापों के प्रतिफल में तपता, जाता उसका वैभव छीज ॥



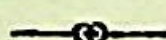
अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥

(अथर्व० ६।२६।१)

शब्दार्थ—हे पाप! अब तू मुझे छोड़ दे और मेरा वशवर्ती बन कर मुझे सुखी कर। मुझ कुटिलतारहित अर्थात् सरल व्यक्ति को कल्याणकारी लोक में स्थापित कर।

(गीत)

पाप! अब परिपाक तेरा।
भर गया घट फूटने को, छूटने को भाग्य मेरा॥
अब न मैं आधीन तेरे, तू पड़ा मेरे चरण में,
दास बन सुख दे मुझे, फिर से न हो छल छन्द फेरा।
छोड़ दे अब तो, कुटिल! मैं हूँ सरलता का पुजारी;
आज मंगल-लोक में मेरा तने कल्याण-डेरा॥



अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे ॥

(ऋ० ८।४३।३१)

शब्दार्थ—अनन्त प्राणियों के प्यारे, पवित्र ज्योति वाले किन्तु हमारे अज्ञान की अपेक्षा से सुप्त रूप में भासित आनन्दरूप परमेश्वर को हम आह्लादित हृदयों से प्राप्त करना चाहते हैं।

(गीत)

प्रिय प्रभु को आज आओ, जगाएँ–रिझायें।
अपना प्यारा, सब का प्यारा, प्रिय से भी प्रिय, परम दुलारा।
जगभर की आँखों का तारा, न्यारा शोभा–साज ॥ आओ…… ॥
जिस की मस्ती मस्त बनाती—उर-उर में मधु लहर उठाती।
हर्षित आनन्दित गति भाती, लाती पुलक–समाज ॥ आओ…… ॥
जिसकी पावन दीप्ति निराली, कण-कण में क्षण भरने वाली।
नख से शिख तक सुषमाशाली, लाली रही विराज ॥ आओ…… ॥
मधुमय प्रभुहित मधुमय उर ले, हर्षोल्लास हृदय में भर ले।
मन्द्र मस्त मादक गुरु स्वर ले, कर ले पूरण काज ॥ आओ…… ॥



सिद्धि

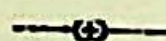
दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये ।
आस्मा अश्रृण्वन्नाशाः कामेना जनयन् स्वः ॥

(अथर्व० १९।५२।३)

शब्दार्थ—दूर से ही, उस अक्षय प्रभु से अपने प्रतिपालन एवं रक्षण की कामना करता हुआ मैं प्रार्थना करता रहा । आज—दिशाओं (प्रभु के कानों) ने मेरी उस प्रार्थना को सुन लिया और सङ्कल्प द्वारा सुखसम्पन्न कर दिया ।

(गीत)

आज हुई सुनवाई मेरी ।
गूंज उठी दिशि दिशि में मेरे संकल्पों की मधुमय भेरी ।
मैंने अपने प्रतिपालन हित कबसे प्रभु से करी पुकार ॥
उस अक्षय दूरस्थ हृदय में अपनी पहुँचाई चीत्कार ।
बार बार बस यही कामना रही, मिलें वे देव उदार ॥
आज सफल संकल्प, मिला सुख, सत्य सिद्ध मेरे उद्गार ।



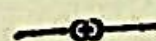
वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥

(ऋ० ८।६६।१३)

शब्दार्थ—हे अनेकों द्वारा अनेक वार पुकारे गए प्रभु, हम निश्चित रूप से तेरे हैं और तेरे आश्रय से ही हम ज्ञानी बन सकते हैं। हे ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु, तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी सुखदाता नहीं है।

(गीत)

हम तेरे तू नाथ हमारा ।
तेरे बन कर सुखी हुए हम वही शान्ति की अभिनव धारा ।
अब सब कर्म ज्ञान की बातें तेरे आश्रय से चमकेंगी;
अन्तःशक्ति बुद्धि वरवाणी अपना सुगम विकास करेंगी ॥
तेरे अवलम्बन को पाकर मिला अमित धन, भूति निराली;
तुझ से अन्य नहीं जगती में कोई सुखप्रद वैभवशाली ।
सबने तुझको—केवल तुझको बार-बार बहु बार पुकारा ॥



उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ।

(ऋ० १।५०।१३)

शब्दार्थ—यह आदित्य मेरे लिये शत्रु का नाश करता हुआ अपने समग्र तेजोबल के साथ उदय हुआ है। फिर मैं द्वेषी शत्रु का नाश क्यों करूँ—क्यों उसकी हिंसा करूँ।

(वीर छन्द)

उदित हुआ यह आत्म सूर्य है,
लिये निखिल बल तेज महान ।
करता हुआ नाश द्वेषी का,
करूँ न मैं पर–हिंसा–मान ॥
खण्ड–खण्ड है दशा द्वेष में,
आत्मसूर्य की दशा अखण्ड ।
जहाँ प्राप्त होती पावनता,
दग्ध द्वेष के व्यूह प्रचण्ड ॥

—:o:—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम् ॥

(ऋ० १०।११४।४)

शब्दार्थ—एक सुन्दरपक्षी संसाररूपी समुद्र में प्रविष्ट हुआ है। वह इस समस्त संसार को देखता है। जब मैं अपने परिपक्व ज्ञान से अत्यन्त निकट होकर इसे देखता हूँ तो प्रतीत होता है कि माता उसे चाट रही है और वह माता को चाट रहा है।

(गीत)

माँ सुत को, सुत माँ को चूमे।
वार-वार वे स्नेह-सने सुख-सिन्धु-तरङ्ग-तरङ्गित झूमे।
अन्तरिक्ष-अम्बुधि अवगाहत लोचन-लाभ ललकि लखि लूटत ॥
करत विहार फिरत जग देखत, पुनः नवल प्रेमाङ्कुर फूटत।
मधुमय पृथिवि प्राणियों के हित, पृथिवि-हेतु मधु निखिल चराचर।
देत प्रगाढ़ प्रमोद परस्पर पावत सुख समभाव निरन्तर ॥



उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्, अप प्रागात्तम आज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
(ऋ० १।११३।१६)

शब्दार्थ—हे जीव, उठो, अब अँधेरा नहीं रहा, प्रकाश चमक रहा है, प्राण आ गया है और चराचर जगत् के उत्पादक उस परम सूर्य तक जाने का मार्ग खुल गया है। अब हम ऐसे स्थान पर आ गए हैं जहाँ आयु बढ़ती ही रहती है।

(गीत)

आज नवल प्रभात।
अरे उठो जग पड़ो जगत में, कैसे नींद सुहात?
चमक रही जब ज्योति चतुर्दिक्, रही न रौरवरात।
आज अरुण का उदय हुआ है, विकसित नव जलजात॥
नव जीवन, नव प्राण उदय हो करते पावन गात।
एक नवीन स्फूर्ति छायी है, चेतनता अवदात॥
परम सूर्य्य तक जाने का भी खुला हुआ है पाथ।
पहुँच गए हम वहाँ, जहाँ है आयु वृद्धि निज हाथ॥



प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः;
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥

(ऋ० ९।७३।६)

शब्दार्थ—अपने अतीत धाम में श्लोकयंत्र वाली, वेगवान् जगत को जानने वाली वीणा वज रही है। अन्धे और वहरे इसे छोड़ देते हैं तथा दुष्कर्मों में लीन प्राणी सत्पथ को पार नहीं कर सकते।

(गीत)

सुनो, रे साधो, यह स्वर्गिक संगीत !
वजती है वीणा समस्वर से अपने धाम अतीत।
तार–तार से मोहक ध्वनि में निकलें गान पुनीत ॥
इसमें पावन यन्त्र जुड़े हैं वेगवान मतिरूप;
पर अन्धे–वहरे क्या सुनते इसका वाद्य अनूप।
यह प्रभु की वाणी की वीणा मधु लहरों में लीन ॥
तर सकते हैं नहीं सत्य पथ सत्कर्मों से हीन।



यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणिबहुलानि सन्तु॥

(अथर्व० १९।२०।२)

शब्दार्थ—भुवनपालक प्राणरूप प्रजापति ने अपनी प्रजा के लिए जिन कवचों का निर्माण किया है और जिनको दिशाओं-प्रदिशाओं ने धारण किया है, वे कवच मेरे प्रवल रक्षक वनें।

(गीत)

तुम्हारे अक्षय कवच मिले।
अव न रही रक्षा की चिन्ता जीवन ज्योति खिले।
नाथ तुम्हारे हाथों द्वारा जव ये गये सिले;—
फिर कैसे विध सकते इनमें द्वेष विशिख निचिले;
सकल दिशाओं प्रदिशाओं ने इनके किये किले।
आज सुरक्षित प्रजा तुम्हारी खल वल जात हिले॥



यदाकूतात् समसुस्रोद्हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥

(यजु० १८।५८)

शब्दार्थ—आकूत, आत्मदर्शन, से जो शक्ति उत्पन्न हुई है और हृदय, मन तथा चक्षु से जिसे तुमने धारण किया है उसी को लेकर चल पड़ो। इस प्रकार तुम सुकृती पुरुषों के लोक को प्राप्त करोगे जहाँ प्रथम उत्पन्न प्राचीन ऋषि पहुँचते रहे हैं।

(गीत)

मिला है प्रभु के बल का बिन्दु;
गुरु की कृपा आत्म-ईक्षण से चमका आत्मिक इन्दु!
हृदय-निवास सुषुप्ति काल में स्वप्न समय मन बीचः—
जगने पर जो रहे नेत्र में, जीव सकल बल खींच।
इसी त्रिधारा द्वारा पाया मन-हर शक्ति निपात—
कर जिसका अनुसरण मिला है सुकृत लोक अवदात।
यहीं, यहीं पर पहले ऋषि-मुनि पहुँचे पथ कर पार;
धन्य आज आकूत धन्य है प्रभु का करुणागार।



नाहमतो निरया दुर्गं हैतत् तिरिश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥

(ऋ० ४।१८।८)

शब्दार्थ—अब मैं इस मार्ग से नहीं निकलूँगा। यह मार्ग कठिन है। मैं तो सीधे बगल वाले मार्ग को चीर कर निकलूँगा। मुझे अनेक ऐसे काम करने हैं जिन्हें किसी ने नहीं किया। एक से (संसार से) मैं लड़ूँगा और दूसरे से (प्रभु से) नम्र होकर पूछूँगा।

(गीत)

आज दिखाई दिया मुझे पथ, यही राजपथ जाता घर को;
मङ्गल मार्ग सामने मेरे, अब क्यों खोजूँ डगर डगर को।
अब न चलूँगा इस जग-मग पर इसमें जगमग चमके माया।
मेरे लिये विकट बीहड़ वन, पग पग पर कंटक कुल छाया।
इसकी चकाचौंध में पड़ कर, भटक गया मैं भोजन भर को।
अब मैं तोड़ पाश सम्मुख का अपनी सीधी राह चलूँगा।
अब तक किए न गए किसी से, ऐसे कर्म अनेक करूँगा।
मुक्ति-युक्ति पाकर निकलूँगा, इस भव बन्धन से बाहर को॥
अब भव से विग्रह ठन जाए, पर भव-भव प्रसन्न हो जाए।
नम्र बनूँ पूछूँ निज गुरु से, चारु चरित उपदेश सुहाए।
बहुत दिनों के बाद देख लूँ प्रेम-पयोधि, स्नेह-निर्झर को॥



न घा त्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि वर्हिष्यस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तु ते ॥

(अथर्व० २०।१७।२, ऋ० ८।४३।२)

शब्दार्थ—हे अनेकों द्वारा अनेकों वार पुकारे गये प्रभु ! तुम्हारी ओर गया हुआ मेरा मन अब नहीं लौटता। मेरी समस्त कामनाएँ अब आप ही में आश्रित हो गई हैं। हे परम दर्शनीय! राजा की भांति इस हृदयासन पर बैठो और यहीं सोम पान करो।

(गीत)

आज मिला तट घाट री, डूब उछल संसृति सरिता में;
इन मादक चञ्चल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने,
खींच लिया मुझको उर अन्तर बन्द विवेक कपाट री ॥ आज०
अघ में अटका, भ्रम में भटका; झेल झेल झटके पर झटका;
विलख उठा, प्रभु-करुणा जागी, पाई पावन बाट री ॥ आज०
अब मन नहीं हटाए हटता, बार बार प्रभु ही प्रभु रटता,
अब न लुभाता मोहक गति से, सुन्दर सरिता पाट री ॥ आज०
न्यौछावर बाँकी झाँकी पर, जीवन का सर्वस्व निरन्तर;
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चञ्चल चित की चाट री ॥ आज०
हृदयासन पर देव विराजे, मनहर मङ्गल वादन बाजे,
सोमपान उल्लास हास के शोभित सुखकर ठाट री ॥ आज०



मन्त्रानुक्रमणिका

—o—

नवीन साहित्य

भक्ति का विकास
डा० मुंशीराम शर्मा
२०—००

हिन्दू संस्कार
आचार्य राजबली पाण्डेय
१५—००

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन
डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
१३—७५

जीवन दर्शन
डा० मुंशीराम शर्मा
२—५०

विक्रमादित्य
आचार्य रा[illegible]ली पाण्डेय
१०—००

मराठी का भक्ति साहित्य
प्रो० भी० गो० देशपांडेय
१०—००

अक्षर अमर रहें
श्री वाचस्पति गैरोला
५—००

साहित्य और सिद्धान्त
प्रो० श्यामलाकान्त वर्मा
३—००

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१